स्कन्दपुराण, माहेश्वर के० खण्डमें मिलता हुआ श्लोक यह है—'**अनाहूताश्च ये सुभ्रु गच्छन्ति परमन्दिरम्। तेऽपमानं प्राप्नुवन्ति मरणादधिकं ततः॥**' (२।५९)।

नोट—२ '***सील सनेहु न कानी***' इति। यह दोनों ओर लगता है। तुम्हारा शील आदि उनके साथ न रह जायगा, न उनका तुम्हारे साथ। हमारे वैरसे तुमसे भी सब वैर मानेंगे और तुम्हारा अपमान करेंगे तब तुम्हें उनपर क्रोध आ जायगा—यह शील-स्वभाव गया। तुम्हारे पिता और बहिनोंको तुम्हारा वहाँ पहुँचना अच्छा न लगेगा। वे तुमपर हँसेंगी, तुम्हारा परिहास करेंगी, कटाक्ष करेंगी, यह देख तुम्हारा स्नेह चला जायगा। अपनेको भवपत्नी जानकर तुम वह अपमान न सह सकोगी। यह तुमको जो दुःख है जिसे तुम अपना अपमान समझती हो उससे कहीं अधिक दुःख तुमको वहाँ प्राप्त होगा। तुम्हारा जो मान अभी है वह न रह जायगा। इसी तरह दूसरोंका शील आदि तुम्हारे साथ न रहेगा। शील न रहा; यथा—'***दच्छ त्रास काहु न सनमानी***', '***भगिनी मिलीं बहुत मुसुकाता।***' स्नेह न रहा, यथा—'***दच्छ न कछु पूछी कुसलाता।*****·····**' और मर्यादा भी न रखी, यथा—'***कतहुँ न दीख संभु कर भागा***', '***प्रभु अपमान समुझि उर दहेऊ***', '***सब ते कठिन जाति अपमाना।***' यहाँ 'शील'से आदर-सत्कार, मुलाहजा-मुरव्वत और '***कानि***' से जाति-पाँतिमें मान-मर्यादा अभिप्रेत है।

नोट—३ इस कथनमें सहोक्ति और सम्भावना अलङ्कारोंका सन्देह सङ्कर है।

टिप्पणी—२ '***जदपि मित्र प्रभु पितु गुर गेहा।*****··········**' इति। अर्थात् इतने स्थानोंमें बिना बुलाये जानेमें अपमान होनेका, शील-स्नेह-कानि जानेका तथा अकल्याणका सन्देह नहीं है। वहाँ जानेमें यह सन्देह कदापि न करे कि बिना बुलाये कैसे जायँ। तात्पर्य कि इनके घरको अपना-सा ही समझें। वहाँ बिना बुलाये जानेमें अपनी 'अमानता' ही भूषण है।

टिप्पणी—३ '***तदपि बिरोध मान जहँ कोई।*****··········**' इति। (क) प्रथम बिना बुलाये किसीके यहाँ जानेका परिणाम बताया कि शील आदि नहीं रहते। अब बताते हैं कि जहाँ कोई भी विरोध मानता हो वहाँ जानेसे कल्याण नहीं होता और दक्ष विरोध मानते हैं, इसलिये वहाँ जानेसे कल्याण न होगा। अर्थात् यहाँ दोनों बातें हैं—न निमन्त्रण है और न प्रेम है, किन्तु वैर है, अतः तुम्हारा मरण होगा। (ख) '***कोई***' का भाव कि जब मित्रादिके यहाँ जानेसे कल्याण नहीं तब और किसी दूसरेके यहाँ जानेसे कल्याण कब सम्भव है ? [दासकी समझमें भाव यह है कि कहीं भी, जहाँ कोई विरोध मानता हो, जानेसे कल्याण नहीं होता। फिर माता-पिता, भाई-बन्धु, मित्र आदि स्नेही ही यदि विरोध मानने लगे हों तब तो उनके समान कोई दूसरा शत्रु हो ही नहीं सकता। वहाँ तो कल्याणकी बात ही क्या, प्राण ही बचना असम्भव है। पुनः, '***कोई***' का भाव कि मित्र आदि न भी वैर मानते हों पर उनके यहाँ भी यदि कोई अपनेसे वैर मानता हो तो भी कल्याण नहीं होता और यहाँ तो स्वयं तुम्हारा पिता ही वैर रखता है तब कल्याण कैसे सम्भव हो सकता है?]

नोट—४ पं० सुधाकर द्विवेदी लिखते हैं कि 'इनके यहाँ बड़े होनेके कारण बिना बुलाये ही जाना चाहिये। क्योंकि और लोग खाली देहके साथी होते हैं और ये लोग तन, मन, धन सबके साथी हैं। मनके साथी होनेसे इनके यहाँ जानेमें कुछ भी संशय नहीं। '***तदपि बिरोध*****·······**' से सूचित किया कि दक्ष पिता हैं, तुम उनके घर जा सकती हो, पर तुमसे मुझसे सम्बन्ध है और वे मुझसे बुरा मानते हैं। इसलिये ऐसे समयमें तुम्हारा जाना मेरा ही जाना है; अतएव मैं मना करता हूँ।' यहाँ तिरस्कार अलङ्कार है।

नोट—५ '***जौं बिनु बोलें जाहु भवानी।*****·······**' इत्यादि वाक्योंसे स्पष्ट है कि सतीजीके वचनोंमें ये सब तर्क मौजूद हैं। जैसा ऊपर दोहेकी व्याख्यामें दिखाया गया है। भा० ४।३।८—१४ में सतीजीके वचन स्पष्ट हैं। यथा—'**कथं सुतायाः पितृगेहकौतुकं निशम्य देहः सुरवर्य नेङ्गते। अनाहुता अप्यभियन्ति सौहृदं भर्तुर्गुरोर्देहकृतश्च केतनम्॥**' (१३) अर्थ पूर्व दोहे ६१ की टि० २ में दिया जा चुका है।

वहाँ शिवजीने उत्तरमें यह कहा था कि तुम्हारा कहना उचित है पर जब स्वजन अभिमानजनित

क्रोधके कारण दोषभरी दृष्टिसे देखते हों तो वहाँ जानेपर वह क्रूरदृष्टिसे ही देखता है। उसके कुटिल कुवाक्यरूपी बाणोंसे मर्मस्थान विद्ध हो जानेसे दिन-रात संताप और व्यथा होती रहती है। ऐसे लोगोंके यहाँ यह समझकर कि ये हमारे बान्धव हैं, कभी न जाना चाहिये। वह हमसे द्वेष रखता है, अतः तुम्हारा मान न करेगा। यथा—'**त्वयोदितं शोभनमेव शोभने अनाहुता अप्यभियन्ति बन्धुषु। ते यद्यनुत्पादितदोषदृष्टयो बलीयसानात्म्यमदेन मन्युना॥.........नैतादृशानां स्वजनव्यपेक्षया गृहान्प्रतीयादनवस्थितात्मनाम्। येऽभ्यागतान्वक्रधियाभिचक्षते आरोपितभ्रूभिरमर्षणाक्षिभिः॥.........स्वानां यथा वक्रधियां दुरुक्तिभिर्दिवानिशं तप्यति मर्मताडितः॥**' (भा० ४।३।१६—१९)। ☞'कल्याण न होगा' यह बात श्लोक २५ में स्पष्ट कही है, यथा—'**यदि व्रजिष्यस्यतिहाय मद्वचो भद्रं भवत्या न ततो भविष्यति। संभावितस्य स्वजनात्पराभवो यदा स सद्यो मरणाय कल्पते॥**' (भा० ४।३।२५) अर्थात् यदि मेरी बात न मानकर वहाँ जाओगी तो कल्याण न होगा। क्योंकि प्रतिष्ठित मनुष्यका स्वजनोंद्वारा अपमान शीघ्र ही मरणका कारण हो जाता है।

भाँति अनेक संभु समुझावा। भावी बस न ग्यानु उर आवा॥७॥
कह प्रभु जाहु जो बिनहिं बोलाएँ। नहिं भलि बात हमारें* भाएँ॥८॥
दो०—कहि देखा† हर जतन बहु रहै न दच्छकुमारि।
दिए मुख्य गन संग तब बिदा कीन्ह त्रिपुरारि॥६२॥

अर्थ—शिवजीने अनेक प्रकारसे समझाया (पर) होनहारवश उनके हृदयमें बोध न हुआ॥७॥ प्रभु (शिवजी) ने कहा कि यदि तुम बिना बुलाये जाती हो तो हमारी समझमें यह बात अच्छी नहीं है॥८॥ (जब) शिवजीने बहुत प्रकारसे कहकर देख लिया कि दक्षकी कुमारी किसी प्रकार न रहेगी तब त्रिपुरारि महादेवजीने मुख्यगण साथ देकर उनको विदा कर दिया॥६२॥

टिप्पणी—१ '***भाँति अनेक संभु समुझावा***' इति। '*कहेहु नीक मोरेंहु मन भावा*' से '*नहिं भलि बात हमारें भाएँ*' तक जो समझाया यही बहुत भाँति समझाना है। सतीजीने जो कहा कि '*पिता भवन उत्सव परम जौं प्रभु आयसु होइ*' उसके उत्तरमें कहा कि '*कहेहु नीक मोरेंहु मन भावा। यह अनुचित नहिं नेवत पठावा॥*' यह कहकर उसका अनौचित्य दिखाया कि '*जौं बिनु बोलें जाहु भवानी। रहै न सील सनेहु न कानी॥*' यदि कहो कि भूल गये तो उसपर कहा कि भूल नहीं गये, जान-बूझकर 'बिसरा' दिया। फिर बिसरानेकी पुष्टि की कि '*दच्छ सकल निज सुता बोलाईं। हमरे बयर तुम्हउँ बिसराईं॥*' आपसे वैर क्यों मानते हैं ? इसका उत्तर दिया, वैरका कारण बताया कि '*ब्रह्मसभाँ हम सन दुखु माना।*' यह तो बहुत दिनकी बात हो गयी, अब उसका खयाल थोड़े ही होगा ? उसपर कहते हैं कि यह बात नहीं है वह तो '*तेहि तें अजहुँ करहिं अपमाना।*' पिताके घर जानेमें अपमान न समझना चाहिये, बिना बोलाये जाना उचित है; उसपर कहा कि यह ठीक है '*तदपि बिरोध मान जहँ कोई। तहाँ गए कल्यान न होई॥*' इत्यादि अनेक भाँति समझाना है। अन्य ग्रन्थोंमें भी जो और कहा गया हो वह भी 'अनेक' में ले सकते हैं।

टिप्पणी—२ '***भावी बस न ग्यानु उर आवा***' इति। इस कथनसे सूचित होता है कि सतीजी यही समझती हैं कि हमारे पिता इनसे वैर नहीं मानते और न इनका अपमान करते हैं, ये जाने देना नहीं चाहते, इसीसे ऐसा कहते हैं। यज्ञमें जाकर शिवजीका भाग वहाँ न देखनेपर जो कहा गया है कि '*तब चित चढ़ेउ जो संकर कहेऊ। प्रभु अपमानु समुझि उर दहेऊ॥*' उससे यह आशय स्पष्ट झलकता है कि सतीजीने शिवजीकी बात झूठ समझी थीं।

☞महात्मा लोग हितके लिये अनेक प्रकारसे समझाया करते हैं। इसी तरह श्रीहनुमान्‌जी, विभीषणजी

* हमारेहि—१७२१, १७६२, छ०, कोदवराम। हमारें—१६६१, १७०४।
† 'करि'—पाठान्तर।

आदिने रावणको समझाया। यथा—'*जदपि कही कपि अति हित बानी। भगति बिबेक बिरति नय सानी॥*'……… '*बुध पुरान श्रुति संमत बानी। कही बिभीषन नीति बखानी॥*' जिसके हितकी कही जाय यदि वह उपदेश न माने तो इसमें महात्माका दोष ही क्या?

'*भावी बस*' कहनेका भाव कि सतीजी पहले शिवजीसे झूठ बोलीं, यथा—'*प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा।*' (५६) यह भी भावीवश था, यथा—'*हरि इच्छा भावी बलवाना। हृदय बिचारत संभु सुजाना॥*' (५६।६) और अब शिवजीको झूठा समझीं। सतीजीका झूठ बोलना और शिवजीको मिथ्यावादी समझना, दोनों ही असम्भव हैं। यही सूचित करनेके लिये दोनों जगह 'भावीवश' कहा।

टिप्पणी—३ '*कह प्रभु जाहु जो बिनहिं बोलाए*………' इति। तात्पर्य कि तुम अपने मनसे जो चाहो सो करो, हम आज्ञा नहीं दे सकते। अनेक भाँति समझानेपर भी जब सतीजी न बोलीं और न यह कहा कि 'बहुत अच्छा मैं न जाऊँगी' तब शिवजीने यह बात कही कि बिना बुलाये जाना हमारे विचारसे अच्छा नहीं है। शिवजीने भावीकी प्रबलता समझकर यह न कहा कि तुम न जाओ, हम नहीं भेजते, किन्तु यही कहा कि जाना हमारे विचारमें अच्छा नहीं है। 'बिना बुलाये जाना अनुचित है' इसीसे शिवजी बारम्बार यह बात कहते हैं। यथा—'*यह अनुचित नहिं नेवत पठावा*', '*हमरें बयर तुम्हउ बिसराई*', '*जौं बिनु बोले जाहु भवानी। रहे न सीलु सनेहु न कानी*'॥ *तदपि बिरोध मान जहँ कोई॥ तहाँ गए कल्यान न होई*' तथा यहाँ '*जाहु जो बिनहि बोलाएँ। नहि भलि बात हमारें भाएँ॥*'

☞प्रथम उनका मन रखनेके लिये, मनुहारके लिये कहा कि '*कहेउ नीक मोरेंहु मन भावा।*' और अब साफ जवाब देते हैं कि बिना बुलाये जाना अच्छा नहीं है।

नोट—१ यहाँ कुछ लोग शंका करते हैं कि 'शिवजी भावीकी प्रबलता समझते थे, भविष्य जानते थे तब उसमें रुकावट क्यों डालते हैं?' इसका समाधान यह किया जाता है कि यहाँ शिवजी लोकमान्य मर्यादाके अनुकूल शिक्षा दे रहे हैं। सतीका अपमान होना अपना ही अपमान है। रही भावी। सो तो अमिट है। सतीजी मानेंगी ही क्यों? वे इससे उपदेश दे रहे हैं कि कर्तव्य कर रहे हैं कि कर्तव्य करना अपना धर्म है, उससे न चूकना चाहिये और फल तो हरि-इच्छानुसार ही होगा। देखिये, वसिष्ठजी जानते थे कि अभी तो राज्य होना नहीं है फिर भी उन्होंने राजासे यह बात नहीं कही, बल्कि राजाके '*नाथ रामु करिअहि जुबराजू। कहिअ कृपा करि करिअ समाजू॥*' इत्यादि बातोंके उत्तरमें यही कहा कि '*बेगि बिलंबु न करिअ नृप साजिअ सबुइ समाजु। सुदिन सुमंगलु तबहिं जब रामु होहि जुबराजु॥*' (२।४) उन्होंने राजाको कर्तव्य करनेको कहा और श्रीरामजीको संयम करनेको कहा। श्रीरामजीको इस प्रकार दो दिन उपवास हो गया। पं० रामकुमारजी कहते हैं कि शिवजी भावीकी प्रबलता समझते हैं, इसीसे यह नहीं कहते कि 'न जाओ' क्योंकि ऐसा कहनेपर यदि जायँ तो पतिकी आज्ञाका स्पष्ट उल्लंघन होगा।

टिप्पणी—४ '*कहि देखा हर जतन बहु*………' इति। (क) यहाँ शिवजीका कोमल स्वभाव दिखा रहे हैं कि आज्ञा भङ्ग करनेपर भी उन्होंने न तो कठोर वचन कहे, न भय दिखाया, किंतु सतीके ही मनकी बात रखी। (ख) '*कहि देखा हर जतन बहु*' अर्थात् बहुत युक्तियोंद्वारा, बहुत प्रकारसे कहकर जहाँतक समझानेकी सीमा है वहाँतक समझाया। '*रहै न दच्छकुमारि*' का भाव कि इस समय उसकी दक्षमें प्रीति है, पतिको त्यागकर वहाँ जानेपर तुली है। [पुनः, भाव कि दक्ष हठी था, वैसे ही इस समय इनका हठ है तो आश्चर्य ही क्या? आखिर उसीकी तो लड़की हैं। सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'दक्षकुमारीका भाव यह है कि 'दक्षको बुरी रीतिसे मारनेवाली हैं', उसको मारनेके लिये जाना है।' (मा० प०)]

नोट—२ '*रहै न*' से यह भी जनाया कि यदि बलपूर्वक रोकते हैं तो यह प्राण दे देंगी और जाने देते हैं तो वहाँ इसके देहत्यागकी सम्भावना है, इससे बलपूर्वक रोकना उचित न समझा। यथा—'**एतावदुक्त्वा विरराम शङ्करः पत्न्यङ्गनाशं ह्युभयत्र चिन्तयन्। सुहृद्दिदृक्षुः परिशङ्किता भवान्निष्क्रामती निर्विशती द्विधाऽऽस सा॥**' (भा० ४।४।१)

☞भा० ४। ४ में लिखा है कि सतीजी शिवजीकी आज्ञा भंगकर उनको अकेले छोड़कर पिताके

यहाँ अकेली ही चल दीं, उनको प्रणामतक न किया था और न उनकी परिक्रमा ही की। इसीसे वहाँ जाकर उनका फिर लौटना न हुआ। यथा—'**न ननाम महादेवं न च चक्रे प्रदक्षिणम्। अतएव हि सा देवी न गता पुनरागता॥**' सतीजीके चल देनेपर मणिमान् आदि गणोंको भूषण-वस्त्र आदिसहित शिवजीने भेजा। वहाँपर सतीजीकी उच्छृङ्खलता-स्वच्छन्दता भागवतकारने दिखायी है,,जो एक पतिव्रता स्त्रीमें न होना चाहिये। परंतु पूज्य भक्त कवि तुलसीदासने सतीशिरोमणिसे अमर्यादित कर्म नहीं करवाये। उन्होंने सतीका आज्ञा माँगना लिखा है और आज्ञा देनेका ही आग्रह किया है। '*जौं प्रभु आयसु होइ तौं मैं जाउँ*' साफ कह रही हैं कि यदि आज्ञा होगी कि 'न जाओ' तो मैं न जाऊँगी, जब शङ्करजीने देखा कि ये अवश्य जाना चाहती हैं और बिना आज्ञा जायँगी भी नहीं, यदि हम हठ करेंगे तो इनके प्राण ही न चले जायँ, तब उन्होंने सेवकोंको साथ कर उनको भेज दिया। पूज्य कविने स्त्रीका आदर्श रखनेके लिये ही लिखा कि '*कहि देखा ....दिये मुख्य गन.........बिदा कीन्ह त्रिपुरारि।*' इसी तरह झूठ बोलनेमें तथा यहाँ भावीको आगे लाकर उसपर लाञ्छन धर दिया है। स्कन्दपु० में सतीजीने कहा है कि दुरात्मा पिताने आपको आमन्त्रित नहीं किया, उसके मनमें आपके प्रति सद्भाव है या दुर्भाव, यह सब जाननेके लिये मैं वहाँ जाना चाहती हूँ, अतः आप आज्ञा दें। ऐसा सुनकर शिवजीने आज्ञा दी और उनके साथ-साथ साठ हजार रुद्रगण कर दिये (माहेश्वर के० खं० २) यह कथा मानसके अनुकूल है।

टिप्पणी—५ '*दिये मुख्य गन संग तब.........*' इति। जो अपना परम विश्वासी और सेवामें कदापि न चूकनेवाला होता है वही स्त्रीके साथ भेजा जाता है, इसीसे यहाँ 'मुख्य गणों' को साथ करना कहा। गण साथ इससे किये कि सतीजीने कहा था कि आज्ञा हो तो सादर देखने जाऊँ, अर्थात् मुझे आदरपूर्वक भेजिये। अतः आदरार्थ मुख्य गण साथ कर दिये। पिताके घर जानेपर सतीका अनादर होगा, इस विचारसे आज्ञा न दी।

नोट—३ मुख्य गण साथ करनेके और भाव ये हैं कि— (क) लोकमर्यादाकी रक्षाके लिये ऐसा किया जिसमें यह न प्रकट हो कि पतिसे रूठकर आयी हैं, उनकी मर्जीके विरुद्ध आयी हैं, अथवा पति भी इनका आदर नहीं करता इत्यादि। (ख) दक्षसे वैर है, अतः शस्त्रास्त्रमें जो निपुण हैं उन्हींको साथ भेजा। भा० ४।४।४ में लिखा है कि सतीजीको जाते देख भगवान् शङ्करके मणिमान् और मद आदि सहस्रों अनुचरगण नन्दीश्वरको आगे कर अन्य पार्षदों और यक्षोंके सहित बड़ी शीघ्रता और निर्भयतासे उनके साथ हो लिये। यथा—'**तामन्वगच्छन्द्रुतविक्रमां सतीमेकां त्रिनेत्रानुचराः सहस्रशः। सपार्षदयक्षा मणिमन्मदादयः पुरोवृषेन्द्रास्तरसा गतव्यथाः॥**' (४) मानसकविका सँभाल देखिये कि वे शङ्करजीका सादर विदा करना लिखते हैं, न कि पीछेसे अनुचरोंका जाना।

नोट—४ आदरपूर्वक भेजना '*दिए मुख्य गन*' और '*बिदा कीन्ह*' से स्पष्ट है। नन्दीश्वरपर सवार कराके और श्वेत छत्र, चँवर, माला और दर्पण, गेंद आदि क्रीड़ाकी सामग्रियाँ तथा दुन्दुभी, शंख आदि गाने-बजानेका सामान साथ कर दिया। यथा—'**तां सारिकाकन्दुकदर्पणाम्बुजस्वेतातपत्रव्यजनस्त्रगादिभिः। गीतायनैर्दुन्दुभिशङ्खवेणुभिर्वृषेन्द्रमारोप्य विटङ्किता ययुः॥**'(भा० ४।४।५)

नोट—५ '*बिदा कीन्ह त्रिपुरारि*' इति। भाव कि—(क) जैसे त्रिपुरके वधमें रूखे हो गये थे वैसे ही रूखे होकर इनको विदा किया। (पं० रा० कु०) (ख) ये त्रिपुरके शत्रु हैं, इनको दक्षसे क्या भय हो सकता है। काशीखण्डमें लिखा है कि जब सतीजी पिताके घर चलीं उस समयकी सायत ऐसी थी—शनिवार, ज्येष्ठा नक्षत्र, नवमी तिथि, व्यतिपात योग, धनिष्ठा नक्षत्रके आधे भाग बीतनेपर उत्पन्न होनेसे सतीका पाँचवाँ तारा था। यथा—'**अद्य प्राचीं यियासं त्वां वारयेत् पङ्गुवासरः। नक्षत्रं च तथा ज्येष्ठा तिथिं च नवमी प्रिये॥ अद्य सप्तदशो योगो वियोगोऽद्यतनः शुभः। धनिष्ठार्धसमुत्पन्ने तव ताराद्य पञ्चमी॥**' (सू० प्र० मिश्र) (ग) 'तारकासुरके बधका समय पहुँच गया है। इसलिये '*तदपि न कहेउ त्रिपुर आराती*' इस चरणका ध्यानकर ग्रन्थकारने यहाँ भी महादेवजीको '*त्रिपुरारि*' कहा। दोहा ५७ की चौपाइयोंमें इसकी व्याख्या देखो।' (सु० द्विवेदी) 'त्रिपुर-ऐसे भीषण दानवके संहारकर्त्ता सतीका नाश जानते हुए भी मनमें क्षोभ

न लाये, तुरत विदा कर दिया। यहाँ परिकरांकुर अलंकार है।' (वीर) त्रिपाठीजी लिखते हैं कि त्रिपुरारिका विदा करना कहकर जनाया कि लौटेंगी नहीं।

पिता भवन जब गईं भवानी। दच्छ त्रास काहु न सनमानी॥ १॥
सादर भलेहि मिली एक माता। भगिनीं मिलीं बहुत मुसुकाता॥ २॥
दच्छ न कछु पूछी कुसलाता। सतिहि बिलोकि जरे सब गाता॥ ३॥

अर्थ—जब भवानी (सती) पिताके घर पहुँची तब दक्षके डरसे किसीने उनका सम्मान न किया॥ १॥ केवल एक माता तो भले ही आदरसे मिली। बहिनें बहुत मुस्कुराती हुई मिलीं॥ २॥ दक्षने कुछ कुशल (तक) न पूछी। सतीजीको देखकर उसके सारे अंग जल उठे (सर्वाङ्गमें आग-सी लग गयी। उसे बड़ी कुढ़न हुई)॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'पिता भवन जब गईं भवानी। ....'* इति। (क) *'भवानी'* का भाव कि ये भव (शङ्करजी) की पत्नी हैं इसीसे इनको न्योता न गया था, ये बिना बुलाये गयीं तो भवके ही सम्बन्धसे दक्ष आदि किसीने इनका सम्मान न किया। (ख) *'दच्छ त्रास काहु न सनमानी'* अर्थात् और लोग इनका सम्मान करते (क्योंकि ये भवानी हैं) पर दक्षके डरसे न किया। यथा—'**तामागतां तत्र न कश्चनाद्रियद्विमानितां यज्ञकृतो भयाज्जनः।**'(भा० ४।४।७) इस कथनसे जनाया कि दक्ष शिवजीसे विरोध मानता है—यह सबको मालूम है। इनका सम्मान करके दक्षका कोपभाजन कौन बने?

नोट—१ सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि *'पिता भवन जब गईं'* से जनाया कि सतीजी पहले यज्ञशालामें नहीं गयीं, सीधी बापके घर गयीं। भव (शिवजी) को फिर सतीने ग्लानि दी, इसलिये *'भवानी'* कहा। *'दच्छ त्रास'* से जनाया कि दक्षके लोगोंने निमन्त्रणके समय महादेव और सतीको निमन्त्रण देनेके लिये बहुत विनय की थी पर दक्षने सभीको डाँट दिया था कि खबरदार उनका नाम न लेना।'

टिप्पणी—२ *'सादर भलेहि मिली एक माता।.........'* इति। (क) *'एक माता'* का भाव कि कोई दूसरा आदरसे न मिला। [माता एक तो मनुशतरूपाजीकी कन्या, दूसरे दक्षकी पत्नी, इसीसे उनको भय न हुआ। दूसरे माताको तो कन्या अति प्यारी होती ही है। अतः वह सादर मिली। (भा० ४।४।७) में लिखा है कि माता बड़ी प्रसन्न हुई। सतीजीको उन्होंने स्नेहपूर्वक गले लगा लिया। उनके नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भर आये, कण्ठ गद्गद हो गया। कुशल-प्रश्न किया और आसन, अलंकार आदि उपहारमें दिये, यह सब बात 'सादर' शब्दसे वक्ताने जना दी। यथा—'**ऋते स्वसॄर्वै जननीं च सादराः प्रेमाश्रुकण्ठ्यः परिषस्वजुर्मुदा॥' सौदर्यसम्प्रश्नसमर्थवार्तया मात्रा च मातृष्वसृभिश्च सादरम्। दत्तां सपर्यां वरमासनं च सा नादत्तपित्राप्रतिनन्दिता सती॥**' (भा० ४। ४। ७-८) पर पितासे अपमानित होनेके कारण इस आदरपर सतीजीने ध्यान न दिया (ख) *'भलेहि'* इति। 'भले ही' बोली है। कोई-कोई इसका अर्थ 'अच्छी तरहसे' यह करते हैं। पर वास्तवमें यह मुहावरा है। इस शब्दको देकर सूचित करते हैं कि और किसीने निरादर भले ही न किया हो पर आदर नहीं किया। लोकरीति है कि स्त्रियाँ आगे जाकर लाती हैं, चादर उतारती हैं, भेंटती हैं। यह सब आदर है। 'भले ही' कहकर जनाया कि बहिनें आकर मिलीं तो जरूर पर आदरसे नहीं।] (ग) *'भगिनीं मिलीं बहुत मुसुकाता'* इति। *'मिलीं'* बहुवचन है, क्योंकि दक्षकी बहुत कन्याएँ थीं। (४८। ६।६२।२) देखिये। 'बहुत' देहलीदीपक है। बहुत भगिनीं, बहुत मिलीं, (पर) 'बहुत मुसुकाता मिलीं'। बहिनें मिलीं, इस कथनसे जनाया कि उनको भी दक्षका त्रास नहीं है। इससे ये भी आकर मिलीं। और कोई दक्षके त्राससे पास भी न गया। *'बहुत मुसुकाता'* का भाव कि ये सब निमन्त्रित थीं और सतीजी निमन्त्रित न थीं। मुसुकाना भी निरादर ही-सा है।

नोट—२ *'मुसुकाता'* के और भाव—(क) इसमें व्यंग्य यह है कि वह घमण्ड कहाँ गया कि ब्रह्म-सभामें पिताजीको देखकर खड़े न हुए थे और अब यज्ञमें नेग-जोग लेनेको पत्नीको भेजा है! वे समझती हैं कि शिवजीने भेजा है। (रा० प्र० मा० प०) (ख) 'श्रीमद्भागवतमें भगिनीकृत अपमानका उल्लेख

नहीं है पर काशीखण्डमें यह लिखा है कि बहिनोंने अभिमान किया। इससे सतीजीने उनसे बात भी न की, पिताके पास गयीं। (मा० प०)

टिप्पणी—३ *'दच्छ न कछु पूछी कुसलाता।.........'* इति। (क) भाव कि जिन्हें मिलना चाहिये, वे तो आकर मिलीं। दक्षको कुशल-प्रश्न करना चाहिये था सो उसने कुछ न पूछा। (ख) *'जरे सब गाता'* अर्थात् नखसे शिखापर्यन्त रिस व्याप गयी। यथा—*'हँसत देखि नखसिख रिस ब्यापी।'* जलना क्रोधका धर्म है। सब गात जलने लगे अर्थात् सतीको देखकर उनके मनमें बड़ा क्रोध हुआ। (ग) शिवजीने जो कहा था कि *'हमरे बयर तुम्हौं बिसराई',* वह वैरभाव यहाँ देख पड़ा कि दक्षने इन्हें शत्रुभावसे देखा। जो शिवजीने कहा था कि तुम्हारा शील, स्नेह और कानि न रहेगी सो न रह गये। दक्षके मन, तन और वचन तीनोंकी दशा यहाँ दिखायी कि सतीको देखकर मनमें क्रोध हुआ, तनसे जल उठा और वचनसे कुशल भी न पूछी।

नोट—३ *'सतिहि बिलोकि जरे.............'* का भाव कि अपनी कन्याको देखकर पिता प्रसन्न होता है, यह मानवप्रकृति है। सतीजी भी यही समझती थीं कि पिता हमें देखते ही प्रसन्न होंगे और सब वैर भूल जायँगे, पर दक्षको तो इन्हें देखते ही उनके पतिद्वारा किया हुआ अपमान भड़क उठा और वह अपनी कन्या सतीहीको देखकर जल उठा। इसीसे यहाँसे सती नाम दे चले। उसीके सम्बन्धसे यज्ञ देखने गयीं, नहीं तो यहाँ क्यों आतीं?

श्रीसुधाकर द्विवेदीजी *'जरे सब गाता'* को सतीजीमें लगाते हैं। वे लिखते हैं कि—'पिताके न पूछनेपर सतीजीको दुःख हुआ कि माँ-बापके लिये तो सब संतान समान हैं, इसलिये माताने मेरा यथोचित सम्मान किया पर बापने बाततक न पूछी। लोगोंने सम्मान न किया, बहिनें चुटकी लेते मिलीं और बापने पूछा भी नहीं—ये मानो क्रमसे तीन अग्नि दावाग्नि, बड़वाग्नि और जठराग्नि लगीं जिससे सतीकी सब देह भीतर-बाहर जलने लगी।' स्कन्दपु० में तो 'दक्षने यह कह डाला है कि तुम यहाँ आयी ही क्यों ? ठहरो चाहे चली जाओ। ये भाव भी *'जरे सब गाता'* में आ जाते हैं।

विनायकी टीकाकारने यहाँ एक फकीरकी आजमायी हुई (अनुभूत) कुछ नसीहतें (उपदेश) दी हैं। वे ये हैं—'खफगी पिताकी। दया माताकी। होतीकी बहिन। अनहोतीका यार। आँखकी त्रिया। गाँठका दाम—जब तब आवे काम। अनूठा शहर। सोवै सो खोवै, जागै सो पावै।'

सतीं जाइ देखेउ तब जागा। कतहुँ न दीख संभु कर भागा॥ ४॥
तब चित चढ़ेउ जो संकर कहेऊ। प्रभु अपमान समुझि उर दहेऊ॥ ५॥
पाछिल दुखु न* हृदय अस ब्यापा। जस यह भएउ महा परितापा॥ ६॥

अर्थ—तब सतीजीने जाकर यज्ञ देखा। (तो वहाँ) कहीं शिवजीका भाग न देखा॥ ४॥ तब शङ्करजीने जो बात कही थी वह चित्तमें चढ़ी (उनके हृदयमें चेत हुआ, बात जम गयी)। स्वामीका अपमान समझकर उनका हृदय जलने लगा॥ ५॥ पिछला दुःख उनके हृदयमें वैसा न लगा जैसा यह महाघोर दुःख हुआ॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'सतीं जाइ देखेउ तब जागा।..............'* इति। *'तब'* अर्थात् जब दक्षकी यह दशा देखी तब सतीजी वहाँसे चल दीं कि यज्ञ देखें, हमारे पतिका वहाँ भाग है या नहीं। *'कतहुँ न दीख'* से जनाया कि सारे यज्ञशालामें खोजती फिरीं पर कहीं न देखा। (*'कतहुँ'* में भाव यह भी है कि यद्यपि ब्रह्माजी और विष्णुभगवान् भी न गये थे तथापि उनके भाग वहाँ रखे थे पर शङ्करजीका भाग कहीं न था।)

टिप्पणी—२ *'तब चित चढ़ेउ जो संकर कहेऊ।...........'* इति। (क) *'तब'* का भाव कि जब शिवजीने कहा था कि *'ब्रह्म सभाँ हम सन दुखु माना। तेहि तें अजहुँ करहिं अपमाना॥'* तब न माना था अब जब आँखों देख लिया कि शिवजीका भाग नहीं है तब माना—यह सतीजीका स्वभाव दिखाया। *'तब*

* अस हृदय न—१७२१, १७६२, छ०, को० राम। न हृदय अस—१६६१, १७०४।

चित चढ़ेउ.........' अर्थात् तब ज्ञान हुआ, होश आया कि वे झूठ नहीं कहते थे, सत्य कहते थे। हमने झूठ मान लिया था। '*जो संकर कहेऊ*' अर्थात् यह कि हमसे वैर है, इसीसे अब भी हमारा अपमान करते हैं। (ख) भाग=अंश, हिस्सा। चित्तपर चढ़ना=ध्यानमें आना, मनमें बसना, समझमें आना। (ग) '*प्रभु अपमान समुझि*...........' अर्थात् अपने अपमानसे हृदयमें संताप न हुआ था। जब दक्षने सतीजीका अपमान किया तब वक्ताओंने उनका क्रोध होना नहीं कहा। पर स्वामीका अपमान समझकर संतप्त हो गयीं। शिवजीके सब वचन सत्य निकले।—

शिववचन		यहाँ सिद्ध हुआ
दच्छ सकल निज सुता बोलाईं।	१	*भगिनीं मिलीं बहुत मुसुकाता*
हमरे बयर तुम्हौं बिसराईं॥	२	*दच्छ न कछु पूछी कुसलाता*
ब्रह्मसभाँ हम सन दुखु माना। तेहि........ ।	३	*कतहुँ न दीख संभु कर भागा*
जौं बिनु बोले जाहु भवानी।	४	*दच्छ त्रास काहु न सनमानी।*
रहै न सीलु सनेह न कानी॥		*दच्छ न कछु पूछी कुसलाता।*
तदपि बिरोध मान जहँ कोई।	५	*अस कहि जोग अगिनि तनु जारा*

नोट—१ '*पाछिल दुखु न हृदय अस ब्यापा।*...........' इति। पति-परित्याग दुःख भी भारी दुःख है। उसे भी दारुण दुःख कहा है, यथा—'*एहि बिधि दुखित प्रजेसकुमारी। अकथनीय दारुन दुख भारी॥*' परंतु पतिपरित्यक्ता होनेकी बात कोई जानता न था और यहाँ यज्ञमें तो सुर, मुनि, किन्नर, गन्धर्व, नाग इत्यादि सभी निमन्त्रित होकर आये हैं। त्रिदेवको यज्ञोंमें बराबर भाग मिला करता था पर इस यज्ञमें शिवजीका अपमान किया गया, उनको भाग नहीं दिया गया, यज्ञभाग पानेवाले देवजातिसे शिवजीका बहिष्कार हो गया। यह बात सभी जान गये। इससे अब अधिक परिताप हुआ। क्यों न हो? '*संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥*' सत्य ही है। भागवत और गीताका भी यही मत है। यथा—'**अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्। सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥**.......**येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्। निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥**' (गीता २) अर्थात् हे अर्जुन! लोग तुम्हारी अक्षय दुष्कीर्ति गाते रहेंगे। मान्य पुरुषोंके लिये अपयश तो मृत्युसे भी बढ़कर है। जिन लोगोंमें तुम्हारा मान है, उन्हींकी दृष्टिमें तुम लघु हो जाओगे। शत्रु तुम्हारे सामर्थ्यकी निन्दा करेंगे। सोचो न कि इससे बढ़कर क्या दुःख हो सकता है। पुनश्च यथा—'**सम्भावितस्य स्वजनात्पराभवो यदा स सद्यो मरणाय कल्पते।**' (भा० ४। ३। २५) गोस्वामीजीने भी यही बात विनय पद ९४ में दरशायी है कि पंक्तिसे अलग किया जाना बड़ा अपमान है और शोचकी बात है। यथा—'*खग गनिका गज ब्याध पाँति जहँ तहँ हौं हूँ बैठारो। अब केहि लाज कृपानिधान परसत पनवारो फारो॥*' काशीखण्डमें भी कहा है कि जातिमें अपमान होनेसे जीवन धिक्कृत हो जाता है। यथा—'**धिग् जीवितं शास्त्रकलोज्झितस्य धिग् जीवितं चोद्यमवर्जितस्य। धिग् जीवितं ज्ञातिपराजितस्य धिग् जीवितं व्यर्थमनोरथस्य॥**' इसीसे और सब दुःख और अपमान सह लिये गये पर यह अपमान न सहा गया। पतिपरित्याग अकथनीय दारुण दुःख था, पर उससे शरीर न छूटा था और '*प्रभु अपमान*' के दुःखसे शरीर छूट गया, इससे यह सिद्ध है कि यह दुःख उससे अधिक है। पतिपरित्यागका दुःख अपना निजका दुःख है और पति- अपमानजनित दुःख पतिके सम्बन्धका दुःख है। पतिव्रताको अपने दुःखकी अपेक्षा दूसरेके द्वारा किये हुए पतिका अपमान अवश्य ही कहीं अधिक असह्य होना ही चाहिये। इसीसे इसे 'महापरिताप' कहा। अन्यकी 'अधिक संताप' संज्ञा थी।

'*प्रभु अपमान*' का भाव कि साधारण पुरुषका अपमान हो तो वह सह लेता है पर जो समर्थ है, ऐश्वर्यवान् है, जिसकी धाक बँधी हुई है उसका अपमान हो तो मरनेके तुल्य है। '*समुझि*' का भाव कि ऊपर जो उपर्युक्त विचार सतीजीके हृदयमें उठे इसीसे 'अकथनीय दारुण दुख' से भी उसकी मात्रा बढ़ गयी।

नोट—२ श्रीसुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'सतीजीके चार अग्नि लगीं। *'दच्छ त्रास काहु न सनमानी'* यह लोगोंका सम्मान न करना पहली अग्नि है। बहिनोंका व्यंग्यसे मुसुकुराना, चुटकी लेते मिलना दूसरी अग्नि है। बापने बाततक न पूछी, यह तीसरी अग्नि है। ये क्रमसे दावाग्नि, बड़वाग्नि और जठराग्नि लगीं। इनके लगनेसे सब देह भीतर-बाहर जलने लगी और अब चौथी अग्नि महादेवापमानसे संसारका संहार करनेवाली प्रलयाग्नि हृदयमें लगी। अब कैसे शान्त हो। इसीसे ग्रन्थकारने *'महा परितापा'* कहा। एकके नाराज होनेसे दूसरा शरण देता है पर जातिमात्रके अपमानसे मनुष्यको कहाँ शरण? जातिके अपमानसे घरका पड़ा मुर्दा सड़ा करता है, अन्तमें डोमड़ेके हाथसे मरनेपर भी दुर्गति होती है। इसलिये ग्रन्थकारने उसे सबसे कठिन कहा। यह सब समझकर उन चारों अग्नियोंको और भभकानेके लिये ईंधनके ऐसा सतीका महाक्रोध भड़क उठा।'

नोट—३ पिताकृत अपमान उपमेयरूप है और पतिपरित्याग उपमानरूप है। उपमानसे उपमेयको अधिक दु:खदायी कहना 'व्यतिरेक अलंकार' है। व्यापना=लगना, असर करना, प्रभाव डालना।

जद्यपि जग दारुन दुख नाना। सब तें कठिन जाति अवमाना*॥७॥
समुझि सो सतिहि भएउ अति क्रोधा। बहु बिधि जननी कीन्ह प्रबोधा॥८॥
दो०—शिव अपमानु न जाइ सहि हृदय न होइ प्रबोध।
सकल सभहि हठि हटकि तब बोलीं बचन सक्रोध॥६३॥

अर्थ—यद्यपि संसारमें भयंकर दु:ख अनेक प्रकारके हैं (तो भी) जाति-अपमान सबसे अधिक कठिन (दु:ख) है॥७॥ यही समझकर सतीजीको अत्यन्त क्रोध हुआ। माताने बहुत तरहसे उनको समझाया-बुझाया॥८॥ परंतु शिवजीका अपमान सहा नहीं जाता और न मनको संतोष ही होता है तब वे सारी सभाको हठपूर्वक रोककर क्रोधयुक्त वचन बोलीं॥६३॥

टिप्पणी—१ *'जद्यपि जग दारुन दुख नाना……'* इति। जाति-अपमान सबसे अधिक कठिन है। यह सतीजीके द्वारा प्रकट दिखाया। क्योंकि सतीजीने दारुण दु:ख तो सह लिया, यथा—*'एहि बिधि दुखित प्रजेसकुमारी। अकथनीय दारुन दुख भारी॥'* (१। ६०। १) पुन: *'जाइ उतरु अब देहौं काहा। उर उपजा अति दारुन दाहा॥'* यह दु:ख भी सह लिया। ब्रह्मसभामें अपमान हुआ वह भी सह लिया पर यह जाति-अपमान है, अत: न सहा गया।

टिप्पणी—२ *'समुझि सो सतिहि भएउ अति क्रोधा।'* इति। (क) क्रोध दो बातोंपर हुआ। प्रथम तो अपना भाग न पाया, यह समझकर 'क्रोध' हुआ और अब जातिमें अपमान हुआ यह समझकर 'अति क्रोध' हुआ। दो बातें समझकर क्रोध हुआ—एक तो पति-अपमान, दूसरे जाति-अपमान। इसीसे दो बार *'समुझि'* क्रिया दी गयी, *'प्रभु अपमान समुझि उर दहेऊ'* तथा *'समुझि सो सतिहि भएउ अति क्रोधा।'* [नोट—अथवा, शिवजीने जो कहा था कि दक्ष हमारा अपमान करता है, उसे यहाँ यज्ञमें भाग न देखनेपर सत्य जानकर हृदयमें आग लग गयी। फिर विचारने लगीं कि यज्ञमें भाग न पाना तो जातिमें अपमान है, अत: 'अति क्रोध' हुआ। तात्पर्य कि यहाँ शिव-अपमान ही जाति-अपमान है। ये दो बातें नहीं हैं, एक ही हैं। इसीसे अगले दोहेमें *'शिव अपमानु न जाइ सहि'* यही कहा, दूसरेको नहीं। वास्तवमें यहाँ 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है। पहले एक साधारण बात कहकर कि *'पाछिल दुखु हृदय अस ब्यापा।……॥'* फिर उसका विशेष सिद्धान्तसे समर्थन किया गया है कि *'जद्यपि जग दारुन दुख नाना।……॥'* दो बार *'समुझि'* इससे लिखा कि *'प्रभु अपमान समुझि उर दहेऊ'* यह कहकर फिर वक्ता उस परितापका कारण और स्वरूप कहने लगे थे, अब फिर वहींसे प्रसंग मिलाते हैं कि *'समुझि सो……।'* (भा० ४।४।९) में 'अति

* अवमाना—१६६१। अपमाना—पाठान्तर।

क्रोध' का उल्लेख इस प्रकार है कि ऐसा क्रोध था मानो अपने रोषसे समस्त लोकोंको भस्म कर देंगी। यथा—'**अरुद्रभागं तमवेक्ष्य चाध्वरं पित्रा च देवे कृतहेलनं विभौ। अनादृता यज्ञसदस्यधीश्वरी चुकोप लोकानिव धक्ष्यती रुषा॥**']

टिप्पणी—३ '*बहु बिधि जननी कीन्ह प्रबोधा*' इति। इससे पाया गया कि सतीसे भेंट होनेके बाद तथा दक्षके बात न करनेपर जब सतीजी यज्ञमें गयीं तो माता प्रसूतिजी स्नेहवश वहाँतक इनके पीछे-पीछे साथ ही गयीं। सतीजीके मुखकी चेष्टासे जान लिया कि उनको भारी दुःख हुआ है, इसीसे समझाने लगीं। 'अति क्रोध' है इसीसे '*बहु बिधि*' समझाना पड़ा और 'प्रकर्ष करके' समझाया पर प्रबोध न हुआ; इसका कारण आगे कहते हैं कि '*शिव अपमानु न जाइ सहि*' अत्यन्त क्रोध है, इसीसे ज्ञान न हुआ।

नोट—१ सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'बोध' के साथ 'प्र' उपसर्ग लगानेसे यह बात पायी जाती है कि माँने गोदमें लेकर बहुत लाड़-प्यारसे तरह-तरहकी बातें कहकर समझाया। २—'*कीन्ह प्रबोधा*'। समझाया कि तुम्हारे पिता तो बौरा गये हैं, उनकी मति मारी गयी, उनकी बातका बुरा न मानो, मैं तुम्हारी बिदाई नेग-जोगसहित तुम्हारी सब बहिनोंसे भी बढ़-चढ़कर करूँगी, इत्यादि।

टिप्पणी—४ '*शिव अपमानु न जाइ सहि*……' इति। शिवजीके अपमानसे क्रोध हुआ; यथा—'*प्रभु अपमान समुझि उर दहेऊ।*' शिव-अपमान सहा नहीं जाता, इसीसे क्रोध शान्त नहीं होता। क्रोध शान्त न होनेसे प्रबोध नहीं होता। तब सभाको हठ करके रोकने लगीं। '*हठि हटकि*' कहकर जनाया कि रोकनेसे नहीं मानते थे; इसलिये हठ करके वेदपाठ, होम आदि सब यज्ञकर्म बन्द कराया और उनका ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। सभा अर्थात् जिनके निरीक्षणमें यज्ञ हो रहा था तथा उसमें भाग लेने जो देवता आये थे और शिवनिन्दा की थी।

नोट—२ (क) यहाँ 'शिव' में तालव्य शकार दिया है। ऐश्वर्य बोध करानेके लिये ऐसा किया है। उसमें भाव यह है कि 'जिनका 'शिव' यह दो अक्षरोंका नाम प्रसंगवश एक बार भी मुखसे निकल जानेपर मनुष्यके समस्त पापोंको तत्काल नष्ट कर देता है और जिनकी आज्ञाका कोई भी उल्लङ्घन नहीं कर सकता उन्हीं पवित्रकीर्ति, मङ्गलमय, संसारके कल्याणकर्ता, विश्वबन्धु भगवान् शिवका दक्षने अपमान किया', अतः सहनेयोग्य नहीं, अवश्य इसको दण्ड देना उचित है। यथा—'**यद् द्व्यक्षरं नाम गिरेरितं नृणां सकृत्प्रसङ्गादघमाशु हन्ति तत्। पवित्रकीर्तिं तमलङ्घ्यशासनं भवानहो द्वेष्टि शिवं शिवेतरः॥ यत्पादपद्मं महतां मनोऽलिभिर्निषेवितं ब्रह्मरसासवार्थिभिः। लोकस्य यद्वर्षति चाशिषोऽर्थिनस्तस्मै भवान् द्रुह्यति विश्वबन्धवे॥ किं वा शिवाख्यमशिवं न विदुस्त्वदन्ये ब्रह्मादयस्तमवकीर्य जटाः श्मशाने। तन्माल्यभस्मनृकपाल्यवसत्पिशाचैर्ये मूर्धभिर्दधति तच्चरणावसृष्टम्॥**' (भा० ४।४।१४—१६) (ख)—हटकना=रोकना, चुप करना। यथा—'*तुम्ह हटकहु जौं चहहु उबारा।*' (२७४) '*डेरा कीन्हेउ मनहुँ तब कटक हटकि मनजात।*' (३-३७) अवमान=अपमान। हेठी करना।

नोट—३ '*बोलीं बचन सक्रोध*' इति। 'क्रोधके आठ सँघाती (साथी) हैं—निन्दा, साहस, बुरा चेतना, ईर्ष्या, दूषण ढूँढ़ना, हानि पहुँचाना, कटुवचन और कठोरता। यथा—'**पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्। वाग्दण्डनं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः॥**'—(वि० टी०)

सुनहु सभासद सकल मुनिंदा। कही सुनी जिन्ह संकर निंदा॥ १॥
सो फलु तुरत लहब सब काहू। भली भाँति पछिताब पिताहू॥ २॥
संत संभु श्रीपति अपबादा। सुनिअ जहाँ तहँ असि मरजादा॥ ३॥
काटिअ तासु जीभ जो बसाई। श्रवन मूँदि न त चलिअ पराई॥ ४॥

शब्दार्थ—**मुनिंदा** (मुनींदु, मुनींद्र)=मुनीश्वरो, मुनिश्रेष्ठ। **लहब**=पावेगा, मिलेगा। **पछिताब**=पछतावेगा। **अपबादा**=झूठा दोष लगानेका भाव, निन्दा, अपमान। **मरजादा** (मर्याद)=धर्म, संस्था, नियम, शास्त्राज्ञा। **पराना**=भाग जाना।

अर्थ—हे सभामें उपस्थित सब लोगो! हे समस्त मुनीश्वरो! सुनो। जिन-जिन लोगोंने शङ्करजीकी निंदा की या सुनी है॥ १॥ उन सबोंको उसका फल तुरत मिलेगा। पिता भी भलीभाँति पछतावेगा॥ २॥ जहाँ (कहीं) सन्त, शम्भु और श्रीपति-(लक्ष्मीजी एवं जानकीजीके पति-) की निन्दा सुननेमें आवे, वहाँ ऐसी मर्यादा है (कि)॥ ३॥ यदि (अपना) वश चले तो उसकी जीभ काट ले, नहीं तो कान मूँदकर भाग जाय॥ ४॥

नोट—१ पं० सुधाकर द्विवेदी एवं सू० प्र० मिश्रजी *'सभासद'* को *'मुनिंदा'* का विशेषण मानते हैं और यह अर्थ करते हैं—'हे सभ्य सब मुनिवरो! सुनिये।' वे लिखते हैं कि 'मुनिंदाका भाव यह है कि अभी तो सज्जन-समाजमें बैठे हो। आपलोग ऐसे पदपर होकर अनुचित काम कराते हैं। श्रेष्ठ ही लोग धर्माधर्मका विवेक करते हैं। इसीलिये सतीजीने मुनीन्द्र सभ्योंको सुनाया।' मनुस्मृतिमें भी कहा है कि '**वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च**॥' (२।६) अर्थात् अखिल वेद तथा वेदज्ञोंकी स्मृति और शील तथा साधुओंका आचार और आत्माका सन्तोष—यही धर्मका मूल है। पुनश्च यथा—'**वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्**॥' (२।१२) अर्थात् वेद, स्मृति, सदाचार और आत्माको प्रिय—ये चार धर्मके लक्षण हैं। वि० त्रि० जी लिखते हैं कि सभामें जानेपर यथार्थ कहना चाहिये। चुप रह जानेवाला या अन्याय करनेवाला समान पापी होता है। यथा—'**सभायां न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम्। विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्बिषी**॥'

टिप्पणी—१ *'सुनहु सभासद सकल मुनिंदा।......'* इति। (क) सब सभाको हठ करके रोका है; यथा—*'सकल सभहि हठि हटकि तब......।'* अतः अब उन्हीं सबोंसे बोलीं। *'सुनहु'* अर्थात् हमारे वचन ध्यान देकर सुनो। *'सकल'* दीपदेहरीन्यायसे दोनों ओर है—*'सकल सभासद'* और *'सकल मुनींद्र।'* (ख) *'कही सुनी जिन्ह'* इति। इससे पाया गया कि प्रथम किसीने कहा तब औरोंने सुना। पिताने पहले निन्दा की, तब औरोंने सुना। पिताका नाम यहाँ नहीं लिया, क्योंकि उनको आगे कहेंगी। पुनः, *'जिन्ह'* बहुवचन पद देकर जनाया कि पिताके अतिरिक्त सभासद् और मुनीन्द्रोंमें भी बहुतों-(जैसे कि भृगुजी आदि-) ने निन्दा की थी। इसीसे सभासदोंके साथ भी कहना लिखा गया। (ग) *'संकर निंदा'* अर्थात् जो सबके कल्याणकर्त्ता हैं उन्हींकी निन्दा की। (तब कल्याण कब हो सकता है?)

टिप्पणी—२ *'सो फलु तुरत लहब सब काहू।......'* इति। (क) *'सो फलु'* अर्थात् जो फल शिवनिन्दकको तथा शिवनिन्दाके श्रोताको मिलता है, जो फल शिवनिन्दाके कथन और श्रवणका है वह। *'तुरत लहब सब काहू'* सब कोई तुरत पावेगा—यह वचन शापरूप है। इसीसे फल तुरन्त मिला, नहीं तो चाहे जन्मान्तरमें मिलता। निन्दाका फल तुरन्त नहीं मिलता। यथा—*'हर गुर निंदक दादुर होई। जन्म सहस्र पाव तनु सोई॥'......'होहिं उलूक संत निंदारत। मोह निसा प्रिय ग्यान भानुगत॥'* (उ० १२१) इसीसे आप कहती हैं कि इस धोखेमें न भूले रहना। इस निन्दाका फल तुमको तुरत इसी तनमें मिलेगा, आगे जो होगा सो होगा। [☞कहा भी है कि '**त्रिभिर्वर्षैः त्रिभिर्मासैः त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः। अत्युत्कटैः पुण्यपापैरिहैव फलमश्नुते**॥' (कहींका प्रसिद्ध श्लोक है।) अर्थात् अत्यन्त उत्कट पुण्यों एवं पापोंका फल तीन वर्षों, तीन मासों, तीन पक्षों अथवा तीन दिनोंके अन्तमें भोगना पड़ता है। प्रस्तुत प्रसंगमें पहले ब्रह्मसभामें घोर पापका प्रारम्भ हुआ, दक्षने मूर्खतावश शिवजीको बहुत बुरे-बुरे वचन कहे और शाप दिया। फिर इस महायज्ञमें भाग न देकर उनका अपमान किया गया। फिर भी फल न मिला। इस तरह उत्कटता बढ़ती ही गयी जो सतीके मरण और रुद्रगणोंके मारे जानेपर पूर्ण हो गयी। इसीसे सब पापोंका फल तुरत सबको मिल गया।]

(ख) *'भली भाँति पछिताब पिताहू'* इति। सभासदों और मुनीन्द्रोंको कहकर अब पिताको उनसे पृथक् कहती हैं। भली-भाँति पछतायेगा—यह कहकर जनाया कि सभासदों और मुनीन्द्रोंसे अधिक उनकी दुर्दशा

होगी। [पिता मरेगा नहीं, पर ऐसी दशा उसकी हो जायगी कि वह जन्मभर पछतायेगा। मरणसे भी अधिक दु:ख उसको होगा (सु० द्वि०)। उसका सिर बकरेका हो जायगा। (भा० ४। ५) के अनुसार वीरभद्रने दक्षका सिर तनसे अलग कर, यज्ञपशुकी तरह उसको बलिकर यज्ञकुण्डमें जला दिया। शिवजीने प्रसन्न होनेपर आज्ञा दी कि बकरेका सिर लगा दिया जावे। यथा—'**प्रजापतेर्दग्धशीर्ष्णो भवत्वजमुखं शिरः।**' (४।७।३) पुनर्जीवित होनेपर उसने बहुत पश्चात्ताप किया है।] '***पछताब***' अर्थात् हमसे न बना, हमने बड़ा बुरा किया, हमने आपका स्वरूप न जाना इत्यादि।

टिप्पणी—३ '***संत संभु श्रीपति अपबादा।***......' इति। (क) यहाँ संत, शम्भु और श्रीपति तीन नाम कहे, क्योंकि ये तीनों एक हैं, शरीरमात्रसे पृथक्-पृथक् देख पड़ते हैं। हर और हरि उपास्य हैं। संत उनके उपासक हैं। हरि-हरसे उनके दास अधिक हैं, इसीसे संतको प्रथम कहा। यथा—'***मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥***' (उ० १२०) '***मोतें संत अधिक करि लेखा।***' (अ० ३६) श्रीशिवजी श्रीपतिके उपासक हैं, इससे शम्भुको पहले कहा, तब श्रीपतिको। संत और शिव दोनों उपासक हैं, इससे दोनोंको साथ रखा। (ख) '***सुनिअ जहाँ तहँ असि मरजादा***' इति। भाव कि जहाँपर सुने वहीं ऐसा करे विलम्ब न करे, यदि ऐसा न करे तो समझना चाहिये कि मर्यादाका नाश हुआ। क्या मर्यादा है? यह आगे बताती हैं कि '***काटिअ***......'

टिप्पणी—४ '***काटिअ तासु जीभ जो बसाई।***......' इति। '**बसाई**'=बस चले, अपना काबू हो। '***जो***' संदिग्धपद यहाँ रखा, क्योंकि जीभ काट लेना कठिन है। (अपनेसे अधिक समर्थ हुआ तो कठिन होगा। अथवा सामर्थ्य होते हुए भी सामयिक कानूनके डरसे भी ऐसा करना कठिन हो सकता है।) प्रथम मर्यादा, धर्म वा नियम यह बताया कि जीभ काट ले। यदि '***न बसाई***' बस न चले तो क्या करे? यह दूसरे चरणमें बताती हैं। (ख) '***श्रवन मूँदि न त चलिअ पराई***' इति। यह दूसरा उपाय है जिससे मर्यादा भंग न हो और सुननेका पाप भी न लगे। कान बन्द करके भाग चले। अर्थात् कान बन्द करनेसे सुन न पड़ेगा। सुननेसे बड़ा पाप होता है, यथा—'***हरिहर निंदा सुनै जो काना। होइ पाप गोघात समाना॥***' (६।३१)

नोट—२ प० पु० स्वर्गखण्डमें व्यावहारिक शिष्टाचारके वर्णन-प्रसंगमें देव, गुरु, वेद आदिकी निन्दाके फलके विषयमें व्यासजी कहते हैं कि शास्त्रोंमें उस निन्दकके उद्धारका कोई उपाय नहीं देखा जाता। वह मनुष्य सौ करोड़ कल्पोंसे अधिक कालतक रौरव नरकमें पकाया जाता है। जहाँ उनकी निन्दा होती हो, वहाँ क्या करे? वहाँ चुप रहे, कुछ भी उत्तर न दे। कान बन्द करके वहाँसे चला जाय। निंदा करनेवालेकी ओर दृष्टिपात न करे।' यथा—'**निन्दयेद् वा गुरुं देवं वेदं वा सोपबृंहणम्। कल्पकोटिशतं साग्रं रौरवे पच्यते नरः॥ तूष्णीमासीत निन्दायां न ब्रूयात् किञ्चिदुत्तरम्। कर्णौ पिधाय गन्तव्यं न चैनमवलोकयेत्॥**' (अ० ५५।३७-३८)

☞ जीभ काटनेकी मर्यादा इसलिये रखी गयी कि जिस अंगसे अपराध किया गया वह अंग नष्ट कर दिया गया। सभासदोंसे इस बातके कहनेका क्या प्रयोजन है? उनसे कहनेका भाव यह है कि तुमने निन्दा सुनी। जिससे सुनी उसकी न तो जीभ ही काटी और न वहाँसे कानमें अँगुली देकर तुम भाग ही गये। बैठे सुनते रहे। अतएव तुमको तुरत फल मिलेगा। यदि कहो कि 'तुमने भी तो निन्दा सुनी पर तुमने भी न तो जीभ काटी न कान बन्द कर लिया?' तो इसका उत्तर आगे देती हैं—'***तजिहौं तुरत देह***......'

नोट—३ पाठान्तरपर विचार। '***काटिअ***' पाठ सं० १६६१, १७०४, १७६२ आदि प्राचीनतम पोथियोंमें है। '***काढ़िअ***' इसका पाठान्तर है जो किसी-किसीमें मिलता है। '***काढ़िअ***' पाठको कोई कोई इसलिये उत्तम मानते हैं कि एक तो 'काटनेमें कुछ-न-कुछ तो रह ही जायगी और हथियार खोजनेमें विलम्ब होगा और

दूसरे, निन्दकका फल 'दादुरजन्म' कहा गया है। दादुरके जीभ नहीं होती, तदनुसार निन्दककी दशा प्रथम ही जीभ निकाल लेनेसे हो जायगी। तीसरे यह कि राख लगाकर जीभ उखाड़ लेना आसान है।

'काटिअ' को उत्तम इस विचारसे हम मानते हैं कि 'यह पाठ सं० १६६१ वाली पोथीमें है जो प्राचीनतम है। दूसरे, इसी पाठका ही नहीं किंतु इस अर्धालीका प्रतिरूप हमें भा० ४।४।१७ में मिलता है। यथा—'**कर्णौ पिधाय निरयाद्यदकल्प ईशे धर्मावितर्यसृणिभिर्नृभिरस्यमाने। छिन्द्यात्प्रसह्य रुशतीमसतीं प्रभुश्चेज्जिह्वामसूनपि ततो विसृजेत्स धर्मः**॥' (सतीवाक्य सभासद् एवं दक्षप्रति) अर्थात् मेरा तो ऐसा विचार है कि यदि निरङ्कुश लोग धर्ममर्यादाकी रक्षा करनेवाले अपने पूजनीय स्वामीकी निंदा करें तो यदि अपनेमें उसे दण्ड देनेकी शक्ति न हो तो कानोंमें अँगुली डालकर वहाँसे चला जाय और यदि शक्ति हो तो '**छिन्द्यात्प्रसह्य**' बलपूर्वक पकड़कर उस बकवाद करनेवाली अमङ्गलरूप जीभको काट डाले। इसके बाद यदि आवश्यक हो तो अपने प्राण भी दे दे—यही धर्म है।—इसके अनुसार भी *'काटिअ'* पाठ शुद्ध है। यह भगवान् व्यासका वाक्य है। सर्वप्रथम टीकाकार श्रीकरुणासिन्धुजीका भी यही पाठ है और बैजनाथजी, बाबा हरीदासजी आदिने भी *'काटिय'* पाठ दिया है।

करुणासिन्धुजी तथा बैजनाथजीने *'काटिय'* का दूसरा भाव यह भी लिखा है कि 'शास्त्रोक्त प्रमाणोंसे उसका खण्डन करे।' ये भाव अङ्गद-रावणसंवादके आश्रयपर कहा गया है। क्योंकि वहाँपर रावणने कई बार अङ्गदसे श्रीरामजीकी निन्दा की पर उन्होंने रावणको न तो जीभ ही काटी और न कान बन्दकर भागे ही। परन्तु मुँहतोड़ उत्तर दिया। यथा—*'जब तेहिं कीन्ह राम कै निंदा। क्रोधवंत अति भयउ कपिंदा॥'*......*'पुनि सकोप बोलेउ जुबराजा। गाल बजावत तोहि न लाजा॥ मरु गर काटि निलज कुल घाती'*......*'रे त्रियचोर कुमारगगामी।'*......*'सन्यपात जल्पसि दुर्बादा।'*......*'राम मनुज बोलत असि बानी। गिरहिं न तव रसना अभिमानी॥ गिरिहहिं रसना संसय नाहीं।'*......*।'* (लं० ३२-३३)—(पर वहाँपर एक कारण यह भी है कि वे दूत हैं, जीभ निकाल लेनेसे प्रभुका अपमान समझते हैं। वे स्वयं कहते हैं कि *'मैं तव दसन तोरिबे लायक। आयसु मोहि न दीन्ह रघुनायक॥'* इत्यादि।)

किसी-किसीने *'जो बसाई'* का अर्थ जो दुर्गन्धवाली है, यह भी किया है। परन्तु आगेके *'न त चलिअ पराई'* (अर्थात् न (बसाइ) तो 'पराई चलिये') के सम्बन्धसे यह अर्थ संगत नहीं। उपर्युक्त श्लोक भी 'शक्ति हो तो' इसी अर्थका पोषक है।

जगदातमा महेसु पुरारी। जगत जनक सब के हितकारी॥५॥
पिता मंदमति निंदत तेही। दच्छ शुक्र संभव यह देही॥६॥

अर्थ—श्रीमहादेवजी जगत्की आत्मा, महान् ईश, त्रिपुरासुरके शत्रु, जगत्के पिता और सबके हितकारी हैं॥५॥ मन्दबुद्धिवाला पिता उनकी निंदा करता है और (मेरा) यह शरीर दक्षके वीर्यसे उत्पन्न हुआ है॥६॥

नोट—१ *'जगदातमा महेसु पुरारी।'*......*'* इति। भाव कि पिताको यह नहीं सूझता कि ये जगत्की आत्मा हैं। अर्थात् संसारके आधारभूत हैं, इनसे वैर करना मानो जगन्मात्रसे तथा अपनी आत्मासे वैर करना है। (रा० प्र०, वै०) 'महेश' महान् ईश हैं, अर्थात् सबोंसे पूज्य हैं, ब्रह्मादि भी इनकी पूजा करते हैं। *'जगदातमा महेसु'* में भागवतके '**न यस्य लोकेऽस्त्यतिशायिनः प्रियस्तथाप्रियो देहभृतां प्रियात्मनः। तस्मिन्समस्तात्मनि मुक्तवैरके ऋते भवन्तं कतमः प्रतीपयेत्**॥', '**किं वा शिवाख्यमशिवं न विदुस्त्वदन्ये ब्रह्मादयस्तमवकीर्य जटाः श्मशाने। तन्माल्यभस्मनृकपाल्यवसत्पिशाचैर्ये मूर्धभिर्दधति तच्चरणावसृष्टम्**॥' (४।४।११, १६) [अर्थात् भगवान् शङ्करसे बड़ा तो संसारमें कोई नहीं है। वे तो समस्त देहधारियोंकी प्रिय आत्मा हैं। उनका न कोई प्रिय है, न अप्रिय। अतएव उनका किसी भी प्राणीसे वैर नहीं है। आपके सिवा ऐसा कौन है जो उनसे वैर करेगा? (आप कहते हैं कि) उनका नाममात्र शिव है पर उनका वेष 'अशिवरूप' है, क्योंकि वे नरमुण्डमाला,

भस्म और हड्डियाँ धारण किये, जटा बिखेरे, भूत-पिशाचोंके साथ श्मशानमें विचरा करते हैं। जान पड़ता है कि आपके सिवा यह उनकी अशिवता ब्रह्मादि देवता नहीं जानते। वे तो उनके चरणोंपरसे गिरे हुए निर्माल्यको अपने सिरपर धारण करते हैं।], इन श्लोकोंके ये भाव भरे हुए हैं। पुनः, 'जगदात्मा' का भाव कि यह सम्पूर्ण जगत् तन्तुओंमें वस्त्रके समान उनमें ओतप्रोत है, वे सम्पूर्ण देहधारियोंकी आत्मा हैं। यथा—'**धारयिष्यति ते वेगं रुद्रस्त्वात्मा शरीरिणाम्। यस्मिन्नोतमिदं प्रोतं विश्वं शाटीव तन्तुषु॥**' (भा० ९।९।७) (यह भगीरथमहाराजने गङ्गाजीसे कहा।) पुनः भाव कि इन्द्रादि देवताओंकी निंदा करना पाप है। तब ये तो 'महान् ईश' हैं, इनकी निंदाका पाप कैसा होगा, यह तुम नहीं जानते? इन्द्रादिके कोपसे बचना कठिन है तब इनका कोप कैसा होगा, यह तुम नहीं जानते? पुनः भाव कि ये जगदात्मा हैं। इनके वैरसे सारा जगत् वैरी हो जायगा, इनकी निंदा करनेसे तुम 'भूतद्रोही' हो जाओगे। तब कैसे बच सकते हो? यथा—'***चौदह भुवन एक पति होई। भूतद्रोह तिष्टै नहिं सोई॥***' (५।३८) पुनः भाव कि ['इस शब्दसे '**हरिहरयोर्भेदो नास्ति**' सूचित किया है।' (सू० प्र० मिश्र)] '**महेश**' का भाव कि जिन देवताओं और मुनियोंके भरोसे तुम भूले फिरते हो, उनकी शक्ति महादेवपर न चलेगी। यथा कुमारसम्भव—'**स हि देवः परंज्योतिस्तमःपारे व्यवस्थितम्।**' अर्थात् श्रीमहादेवजी तमोगुणसे परे परज्योतिस्वरूप हैं।

नोट—२ (क) '***पुरारी***' अर्थात् इन्होंने सबकी रक्षाके लिये त्रिपुरासुरको मारा। भाव यह कि यदि किसीको अपने बलका गर्व हो तो भला त्रिपुरारिके सामने किसका गर्व रह सकता है? [त्रिपुरासुरके आगे आपका गर्व कहाँ चला गया था कि छिपे-छिपे फिरते थे और महेशकी शरणमें गये थे? क्या वह सब भूल गये? ऐसे कृतघ्न हो रहे हैं। (प० प० प्र०)] '***जगत जनक***' जगत्पिता हैं, तुम भी जगत्‌के एक प्राणी हो। अतः तुम्हारे भी पिताके तुल्य हैं। तब भला पुत्रको अपने पिता-समान गुरुजनोंकी निन्दा करनी उचित है? '***जगत जनक***' का भाव कि सृष्टिमात्र इनको पिता-समान मानती है। पुनः, कल्पभेदसे ये जगत्‌के उत्पन्न करनेवाले भी कहे गये हैं, इससे '***जनक***' कहा। (पं०) पुनः, भाव कि जगत्‌के पालनकर्त्ता हैं। पिता वा पालन करनेवालेसे वैर करनेसे पालन-पोषण कैसे होगा? (ख) '***सब के हितकारी***' हैं। भाव कि अपने हितकरसे द्वेष करना कब उचित है? तब तो उनसे वैर करनेवाला अपने हितसे हाथ ही धो बैठे। '***हितकारी***' से भक्ति, भुक्ति, मुक्ति, ऐश्वर्य सभी कुछ देनेवाले, उदारचित्त और दयालु जनाया। ☞इन विशेषणोंसे शिवजीकी शक्ति, महत्त्व, अजेयत्व, प्रताप, आदर्श दयालुता इत्यादि दिखाकर सूचित किया कि भला ऐसे महान् पुरुष निन्दायोग्य हो सकते हैं? कदापि नहीं। पुनः (ग) '***जगत जनक***' से सबको उत्पन्न करनेवाले ब्रह्मा और '***हितकारी***' से जगत्पालक विष्णु भी इन्हींको सिद्ध किया। इस प्रकार त्रिमूर्तिरूप शिवजीकी निन्दा सूचित की। इसीसे '***मंदमति***' कहा। (सू० प्र० द्विवेदीजी) (भा० ४।४।१५) '**लोकस्य यद्वर्षति चाशिषोऽर्थिनस्तस्मै भवान्द्रुह्यति विश्वबन्धवे॥**' (अर्थात् जो सकाम पुरुषोंकी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण कर देते हैं, उन विश्वबन्धु भगवान् शिवसे तू द्रोह करता है) के यह भाव '***हितकारी***' शब्दमें हैं।

नोट—३ '***पिता मंदमति निंदत तेही***' इति। (क) '***तेही***' अर्थात् जिसका संसारपर उपकार है, जिनकी ऐसी महिमा है जैसा ऊपरकी अर्धालीमें कह आयीं—उनकी। तात्पर्य कि जिनकी पूजा, स्तुति आदि करनी चाहिये उनकी (निन्दा करता है)। शिवजीका उपकार और महिमा न जाननेसे '***मंदमति***' कहा। (भा० ४।४।१४) के '**पवित्रकीर्तिं तमलङ्घ्यशासनं भवानहो द्वेष्टि शिवं शिवेतरः।**' (अर्थात् ऐसे पवित्रकीर्ति जिनकी आज्ञाका कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता, उन शिव मङ्गलमूर्तिसे आप द्वेष करते हैं, अवश्य आप अमङ्गलरूप हैं)—इस श्लोकके भाव इस चरणमें हैं। '***निंदत***' क्रियासे जान पड़ता है कि पूर्व ब्रह्मसभामें ही नहीं निन्दा की थी किंतु अब भी इस यज्ञ-महासभामें भी निन्दा करता है। क्या निन्दा करता है?

यह कुछ ऊपर नोट १ (क) में स्वयं सतीजीके वाक्यमें आ गया है—यही भा० ४।२।९, १६ का भी सारांश है। जो देखना चाहे वहाँ देख ले। यहाँ तो सतीजी सभासदोंसे कह रही हैं, तब उनसे यह कहनेकी क्या जरूरत है? उनसे कहनेका अभिप्राय यह है कि तुम ऐसे महामहिम '**सर्वहितेरत:**' की बैठे-बैठे निन्दा सुनते हो और कुछ कहते नहीं, न निन्दककी जीभ काटते हो, अत: तुमको निन्दा सुननेका फल मिलेगा। इसका सम्बन्ध आगे अपनेसे भी है।

(ख) '***दच्छ शुक्र संभव यह देही***' इति। ['**आत्मनो जायते असौ आत्मज वा आत्मजा**' के अनुसार दक्षका अंश सतीजीकी देहमें है। इसीसे दक्ष-शुक्रसम्भव कहा। नहीं तो वस्तुत: सतीजी तो विष्णुमाया या उनके एक तेजका अवतार हैं। (७९) (८) '***पंच कहे शिव सतीं बिबाही***' में देखिये।] **देही**=देह। यथा—'***चोंचन्ह मारि बिदारेसि देही।***' (अ० २९) '***कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥***' (उ० ४४) तथा '***तजिहौं तुरत देह तेहि हेतू***' जो आगे स्वयं सतीजीने स्पष्ट कर दिया है। '***देही***' को 'देह' कहा। [उपर्युक्त कारणोंसे यहाँ वीर्य अर्थ लेना अनुचित है। '**शुक्रं तेजो रेतसि च**' (अमरकोष) जिस तेजको प्राशन करनेसे सतीजीका प्रथम अवतार हुआ, उससे ही सती-देह बनी है, पर दक्षके शरीरमें प्रविष्ट होनेसे दक्षका भी सम्बन्ध है। प० प० प्र०]

तजिहौं तुरत देह तेहि हेतू। उर धरि चंद्रमौलि बृषकेतू॥ ७॥
अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। भयउ सकल मख हाहाकारा॥ ८॥

अर्थ—उसी कारण (मैं) ललाटपर द्विजचन्द्र धारण करनेवाले वृषकेतु-(जिनकी पताकामें धर्म विराजमान है, धर्मध्वज, धर्मात्मा-) को हृदयमें धारणकर इस देहको तुरन्त ही त्याग दूँगी॥ ७॥ ऐसा कहकर उन्होंने योगाग्निसे शरीरको भस्म कर दिया। सारी यज्ञशालामें हाहाकार मच गया॥ ८॥

टिप्पणी—१ '***तजिहौं तुरत देह******' इति। '***तुरत***' का भाव कि भगवत्-विमुखसे सम्बन्ध पलभर भी नहीं रखना चाहिये, अत: मैं भी अब क्षणभर भी पिता-पुत्रीका सम्बन्ध न रखूँगी।—[देखिये, '***दच्छ शुक्र संभव यह देही॥ तजिहौं तुरत***' के पूर्व वे दक्षको पिता ही कह रही थीं। यथा—'***पिताभवन उत्सव परम जौ प्रभु आयसु होइ।***' (६१), '***पिता मंदमति निंदत तेही।***' पिताका नाम लेनेका निषेध है। पर अब पिता न कहकर '***दक्ष***' कहा और उसे '***मंदमति***' कहा। इस तरह जनाया कि मैंने उससे अब सम्बन्ध तोड़ दिया। '***तेहि हेतू***' अर्थात् दक्ष-शुक्रसम्भव होनेके कारण।]

नोट—१ (भा० ४।४) में इसी भावके सतीजीके निम्न वाक्य हैं—

'अतस्तवोत्पन्नमिदं कलेवरं न धारयिष्ये शितिकण्ठगर्हिण:।
जग्धस्य मोहाद्धि विशुद्धिमन्धसो जुगुप्सितस्योद्धरणं प्रचक्षते॥
नैतेन देहेन हरे कृतागसो देहोद्भवेनालमलं कुजन्मना।
व्रीडा ममाभूत्कुजनप्रसङ्गतस्तजन्मधिग्यो महतामवद्यकृत्॥
गोत्रं त्वदीयं भगवान् वृषध्वजो दाक्षायणीत्याह यदा सुदुर्मना:।
व्यपेतनर्मस्मितमाशु तद्ध्यहं व्युत्स्रक्ष्य एतत्कुणपं त्वदङ्गजम्॥

(१८, २२-२३)

(अर्थात्) आप भगवान् नीलकण्ठकी निन्दा करनेवाले हैं। अत: आपसे उत्पन्न हुए इस शरीरको अब मैं नहीं रख सकती। यदि अज्ञानवश भूलसे कोई अशुद्ध अखाद्य वस्तु खा ली जाय तो उसे वमन करके निकाल देनेसे ही शुद्धि होती है। (अन्य उपाय नहीं है। इसी प्रकार आपके यहाँ उत्पन्न होनेकी निन्दा इस शरीरके त्याग देनेसे ही दूर होगी, अन्यथा नहीं।) हरका अपराध करनेवाले आपसे उत्पन्न यह निन्दित देह बस बहुत हो चुकी, इसे रखकर क्या करना है, अब मुझे इससे कोई प्रयोजन नहीं। आप ऐसे दुर्जनसे सम्बन्ध होनेसे मुझे लज्जा आती है। जो महापुरुषोंका अपराध करता है उससे होनेवाले जन्मको धिक्कार है। जिस समय 'वृषध्वज' शङ्करजी आपके साथ मेरा सम्बन्ध दिखलाते हुए मुझे हँसीमें 'दाक्षायणी'

कहकर पुकारते हैं, उस समय उनकी हँसीको भूलकर मुझे बड़ी लज्जा और खेद होता है। इसलिये आपके अङ्गसे उत्पन्न इस शवतुल्य शरीरको तुरत त्याग दूँगी। (१८, २२-२३)

नोट—२ *'उर धरि 'चंद्रमौलि बृषकेतू'* इति *'चंद्रमौलि'* का भाव कि—(क) सतीजी योगाग्निसे तनको जलाना चाहती हैं। चन्द्रमौलिको उरमें धारण करती हैं जिसमें अग्निका ताप न व्यापे। (पं० रा० कु०) (ख) चन्द्रमामें अमृत है, वह ताप दूरकर शीतल करता है। अतएव आप हमें पुनः जीवित और शीतल करेंगे। (पां०) (ग) इससे शिवजीको क्षीण-दीनसंग्रही सूचित करते हुए जनाया कि मुझ दीन दासीको अवश्य ग्रहण करेंगे; मेरा पालनकर मुझको महत्त्व देंगे। (रा० प्र०) (घ) 'चन्द्रमौलि धर्मध्वज' को हृदयमें रखनेसे सतीजीने अपने पति जगदात्माको ध्यानमें मनकी ब्रह्मगुफामें चढ़ा लिया और योगाग्निमें मलिन देहको भस्म कर दिया, इसलिये महादेवमें लीन हो गयीं। अन्त समय मनुष्य जिसको स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, उसी रूपका वह हो जाता है।' (सु० द्विवेदीजी) गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—'**यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥**' (८। ६) और भी कहा है—'**अन्ते मतिः सा गतिः।**' (ङ) 'शिवजीकी प्राप्तिके लिये चन्द्रमौलि बृषकेतुको उरमें रखा—*'जहाँ जाकी आसा तहाँ ताकी बासा।'* अमियमय चन्द्र सिरमें है। इससे मुझे सजीव कर लेंगे।' (बै०) (च) दूसरे जन्ममें अमरकथा सुनाकर सदाके लिये अमर कर लेंगे। (वि० टी०)

'बृषकेतू' को उरमें धरनेके भाव कि (क) धर्म आपकी पताकामें है। आप धर्मरूप हैं, धर्मात्मा हैं। [अधर्मीसे उत्पन्न देह त्यागकर धर्मात्माका सम्बन्ध ग्रहण करूँगी, उनका सम्बन्ध नहीं त्याग करती, यह जनाया।] (पं० रा० कु०) (ख) वृष (बैल) का सब निरादर करते हैं। अतएव वह दीन है। शिवजी दीनजनपालक हैं, इसी गुणको जनानेके लिये उन्होंने वृषको पताकापर धारण किया है। अतएव मुझ दीनको भी ग्रहण करेंगे, आश्रय होंगे। (ग) धर्मकी ध्वजा हैं। मेरा अपराध क्षमा कर मेरे पातिव्रत्यकी रक्षा करेंगे। (पां०) (घ) दूसरे जन्ममें धर्मपूर्वक विवाहकर मुझे धर्मपत्नी मानकर ग्रहण करेंगे। (बै०) ☞स्मरण रहे कि रघुनाथजीके दिये हुए 'वृषकेतु' नामका यहाँ पुनः प्रयोग हुआ।

टिप्पणी—२ *'अस कहि जोग अगिनि तनु जारा'* इति। (क) सतीजीने जो यह कहा कि *'तजिहौं तुरत देह तेहि हेतू'* तो गोस्वामीजीने भी तुरत देहका तजना चौपाईमें दिखाया। 'एक भी चौपाईका व्यवधान न किया।' (ख) *'अस कहि'* का भाव कि यदि सतीजी ऐसा न कहतीं तो लोग सतीजीको दोष देते कि दक्षने निमन्त्रण नहीं दिया था, इसीसे वे यज्ञनाशहेतु यहाँ आकर मर गयीं। परन्तु सतीजीके ऐसा कह देनेसे लोक और वेद दोनोंमें उनकी सफाई हुई (वे निर्दोष साबित हुईं)। अब लोग जानेंगे कि शिवविमुखसे सम्बन्ध मिटानेके हेतु उन्होंने तनका त्याग किया, निमन्त्रण न होनेके कारण नहीं।—यह लोकमें सफाई (निष्कलंकता) हुई। और वेदाज्ञा है कि विमुखसे सम्बन्ध न रखे, सो देह-त्यागसे इस वेदाज्ञाका भी पालन हो गया। यह वेदकी सफाई है।

शंका—सत्तासी हजार वर्ष क्लेशसहित जीवन बिताते हुए प्रार्थना करती रहीं कि देह छूट जाय, तब योगाग्निसे देह-त्याग क्यों नहीं किया?

समाधान—शिवजीने सतीजीको त्याग दिया था। यदि वे पतिपरित्यागके कारण शरीर छोड़तीं तो पातिव्रत्यमें दोष आता कि पतिके ऊपर प्राण दे दिये। उन्होंने जो पतिका अपमान समझकर तन त्याग किया, उससे पातिव्रत्यधर्मकी स्वच्छता बनी रह गयी। योगाग्निसे जलना—यह उत्तम रीति है; यथा—*'अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। राम कृपा बैकुंठ सिधारा॥'* (अ० ९) *'तजि जोग पावक देह हरिपद लीन भइ जहँ नहि फिरे।'* (अ० ३६)

नोट—३ योगाग्निमें शरीर किस प्रकार जलाया? —यह श्रीमैत्रेयजीने (भा० ४। ४) में इस प्रकार कहा है—'**इत्यध्वरे दक्षमनूद्य शत्रुहन् क्षितावुदीचीं निषसाद शान्तवाक्। स्पृष्ट्वा जलं पीतदुकूलसंवृता निमील्य**

दृग्योगपथं समाविशत्॥ कृत्वा समानावनिलौ जितासना सोदानमुत्थाप्य च नाभिचक्रतः। शनैर्हृदि स्थाप्य धियोरसि स्थितं कण्ठाद् भ्रुवोर्मध्यमनिन्दितानयत्॥......जिहासती दक्षरुषा मनस्विनी दधार गात्रेष्वनिलाग्नि-धारणाम्॥' (२४—२६) देवी सतीजी उत्तरकी ओर मुख करके बैठ गयीं और पीताम्बर धारणकर आचमन लेकर नेत्र बन्दकर आसन लगाकर उन्होंने 'प्राण' और 'अपान' वायुको नाभिचक्रमें स्थितकर उन्हें 'समान' किया। फिर उदानवायुको नाभिचक्रसे ऊपर उठाकर धीरे-धीरे बुद्धिके साथ हृदयमें, तीनों मिले हुए वायुओंको स्थिर करके तब वहाँसे उन्हें कण्ठमार्गसे भृकुटियोंके बीचमें ले गयीं। इस प्रकार सारे शरीरकी वायुको रोककर महामनस्विनी सतीजीने दक्षपर कुपित होकर अपने सम्पूर्ण अङ्गोंमें वायु और अग्निकी धारणा की।' सब ओरसे चित्त हटाकर शिवपदके ध्यानमें लग गयीं। शिव-ही-शिव ध्यानमें रह गये। बस तुरन्त ही योगाग्निसे शरीर जल उठा।

नोट—४ यहाँपर लोग यह शङ्का करते हैं कि—'योगाग्निसे शरीर जलनेपर पुनर्जन्म नहीं होता; यथा—*'तजि जोग पावक देह हरिपद लीन भइ जहँ नहिं फिरे॥'* (अ० ३६) और सतीजी तो तुरन्त ही हिमाचलके घर जाकर अवतरित हुईं, यह कैसे?'—इसका समाधान तो स्वयं ग्रन्थकारने ही अगले दोहेकी पाँचवीं और छठी अर्धालीमें कर दिया है कि *'सतीं मरत हरि सन बरु माँगा। जनम जनम सिवपद अनुरागा॥ तेहि कारन हिमगिरि गृह जाई। जनमीं पारबती तनु पाई॥'* अर्थात् सतीजीने मरते समय यह वर माँगा कि पुनर्जन्म होकर शिवपदमें मेरा प्रेम हो। इसीसे उनका पुनर्जन्म हुआ। इसी ग्रन्थमें शरभंग मुनि और श्रीशबरीजीका भी योगाग्निद्वारा शरीर छोड़ना पाया जाता है। इनमेंसे श्रीशबरीजी तो हरिपदमें लीन हो गयीं, क्योंकि उन्होंने कोई ऐसा भक्तिवरदान नहीं माँगा था परन्तु शरभंगजीने भक्तिवरदान माँगा था इसलिये वे हरिपदलीन न हुए। यथा—*'अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। रामकृपा बैकुंठ सिधारा॥ ताते मुनि हरि लीन न भएऊ। प्रथमहि भेद भगति बर लएऊ॥'* (अ० ९) श्रीशरभंगजी और सतीजीकी व्यवस्था प्रायः एक-सी है। यही उनके पुनर्जन्मका कारण हुआ। दूसरा समाधान यह है कि सतीजी भगवती हैं, ईश्वरकोटिमें हैं, *'जगसंभव पालन लयकारिनि। निज इच्छा लीला बपु धारिनि॥'* (बा० ९८) हैं। वे तो जब इच्छा करें लीलातन धारण कर सकती हैं। उनके लिये योगाग्नि आदि बाधक नहीं हो सकते। स्मरण रहे कि शरभंगजी और सतीजीकी एक व्यवस्था होनेसे दोनों जगह *'अस कहि जोग अगिनि तनु जारा'* वही एक चरण रखा गया।

नोट—५ *'भयउ सकल मख हाहाकारा'* इति। अर्थात् सब लोग सोचमें पड़ गये कि अब यज्ञका नाश हो गया। (पं० रा० कु०) सम्पूर्ण यज्ञशालामें हाहाकार मच गया, इससे सिद्ध हुआ कि दक्ष भी उनको हाहाकार करनेसे न रोक सका। (भा० ४। ४। २८—३१) में विदुरजीसे मैत्रेयजीने 'इस हाहाकार' का वर्णन यों किया है—पृथ्वी और आकाशमें जितने यज्ञके देखनेवाले थे, वे सब-के-सब इस अद्भुत सतीचरित्रको देखकर हाहाकार करने लगे (जिसका कोलाहल आकाश और पृथ्वीमें छा गया) कि 'हा हा! बड़े, खेदकी बात है। श्रीशिवजीकी प्रिया सतीजीने कुपित होकर प्राण ही त्याग दिया। अहो! सारे चराचरके जीव इसी प्रजापतिकी प्रजा हैं, संतान हैं तो भी इसकी महामूढ़ता और दुष्टता तो देखो! इसने अपनी कन्याका निरादर किया जो सभीकी माननीया और पूज्या हैं, आदरपात्री और उदारचित्ता हैं। इसके किये हुए अपमानके कारण ही उन्होंने शरीर त्याग दिया; दक्ष ब्रह्मद्रोही है। इसका हृदय बड़ा कठोर है। लोकमें इसकी बड़ी अपकीर्ति होगी। इसीके अपराधसे इसकी कन्या इसीके सामने देह-त्याग करनेपर उद्यत हुई तो भी इसने उन्हें न रोका।' यथा—'**तत्पश्यतां खे भुवि चाद्भुतं महद्धाहेतिवादः सुमहानजायत। हन्त प्रिया दैवतमस्य देवी जहावसून् केन सती प्रकोपिता॥ अहो अनात्म्यं महदस्य पश्यत प्रजापतेर्यस्य चराचरं प्रजाः। जहावसून् यद्विमतात्मजा सती मनस्विनी मानमभीक्ष्ण-मर्हति॥ सोऽयं दुर्मर्षहृदयो ब्रह्मध्रुक् च लोकेऽपकीर्त्तिं महतीमवाप्स्यति। यदङ्गजां स्वां पुरुषद्विडुद्यतां न प्रत्यषेधन्मृत-येऽपराधतः॥ वदत्येवं जने सत्या दृष्ट्वाऽसुत्यागमद्भुतम्।**'

प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि सतीजीने देह-त्यागका निश्चय कह दिया तथापि दक्ष या भृगु आदि मुनिवर एवं इन्द्रादि देवोंमेंसे किसीने भी उनको समझानेका किञ्चित् भी प्रयत्न न किया। इससे सिद्ध होता है कि उनको विश्वास न था कि सतीजीमें स्वेच्छासे देह-त्याग करनेकी शक्ति है।, भृगु आदि ऋषि और इन्द्रादिके न समझानेका कारण यह भी हो सकता है कि ये सब दक्षके पक्षमें थे। ब्रह्मसभामें दक्षके आनेपर इन्द्रादि देवता तेजहत हो गये थे, सबने उठकर अभिवादन किया था। दक्ष सबका नायक है। दक्षने ही जब सतीका अपमान किया तब उसके सामने सतीजीको समझानेका साहस ये कब कर सकते थे। पुनः, समझाने या कुछ कहनेका अवकाश ही सतीजीने न दिया, उन्होंने यह कहते ही शरीरको योगाग्निसे भस्म करके देहका सम्बन्ध अलग कर दिया।

दो०—सती मरनु सुनि संभुगन लगे करन मख खीस।
जग्य बिधंस बिलोकि भृगु रच्छा कीन्हि मुनीस॥६४॥

अर्थ—सतीजीका मरण सुनकर शिवगण यज्ञको नष्ट-भ्रष्ट करने लगे। यज्ञका नाश देखकर मुनीश्वर भृगुने यज्ञकी रक्षा की॥६४॥

टिप्पणी—१ (क) *'मरनु सुनि'* से पाया गया कि हरगण पहले ही बाहर रोक दिये गये थे, यज्ञशालामें नहीं जाने पाये थे। अब खबर पाकर वे घुस पड़े। यदि वे साथ ही भीतर गये होते तो *'सती मरनु लखि'* ऐसा लिखते। सती-मरणपर हाहाकार हुआ था वही सुनकर ये यज्ञशालामें गये। [यज्ञशालाके भीतरका हाहाकार बाहर सुनायी दिया हो या न दिया हो, पर आकाशचारी देवगणोंके हाहाकारका जो कोलाहल हुआ उससे वह बाहर-भीतर सर्वत्र सुनायी दिया, उसीसे हरगण जान पाये।] (ख) *'करन लगे मख खीस।'* भाव कि इस यज्ञसे हमारी स्वामिनीका नाश हुआ है तो हम इस यज्ञका नाश करेंगे। इस भावसे वे अस्त्र-शस्त्र लिये इस यज्ञशालामें घुसकर उसका नाश करने लगे। (ग) *'भृगु रच्छा कीन्हि मुनीस'* इति। यज्ञ करानेवाले समस्त मुनियोंमें भृगुजी श्रेष्ठ और समर्थ हैं, इसीसे इन्होंने मन्त्रद्वारा यज्ञकी रक्षा की।

नोट—१ *'भृगु रच्छा कीन्हि'* इति। इससे ज्ञात होता है कि भृगुजी इस यज्ञके आचार्य थे, अध्वर्यु थे। अपनेको आचार्य जानकर अथवा ब्रह्मसभामें जो शापाशापी हुई थी उस कारण शिवजीसे वैर मानकर उन्होंने यज्ञकी रक्षा की। किस तरह रक्षा की? (भा० ४। ४) में लिखा है कि विघ्नोंके नष्ट करनेवाले मन्त्र पढ़कर उन्होंने दक्षिणाग्निमें आहुतियाँ डालीं। उसके प्रभावसे सहस्रशः नामक वीर, तेजस्वी, तपस्वी यज्ञरक्षक देवगण तुरन्त प्रकट हो गये जिन्होंने अपने तपके प्रभावसे बहुत-सा सोमरस प्राप्त किया था। **'तेषामापततां वेगं निशाम्य भगवान्भृगुः। यज्ञघ्नघ्नेन यजुषा दक्षिणाग्नौ जुहाव ह॥ अध्वर्युणा हूयमाने देवा उत्पेतुरोजसा। ऋभवो नाम तपसा सोमं प्राप्ताः सहस्रशः॥'** (३२-३३) इन्होंने जलती हुई लकड़ियोंसे आक्रमणकर गुह्यकोंसहित समस्त प्रमथगणोंको भगा दिया।

नोट २—'भृगुजी' इति। ये भार्गववंशके पुरुषा हैं। सप्तर्षिमेंसे एक ये भी माने जाते हैं। ब्रह्माजीके नौ मानस पुत्रोंमेंसे एक हैं। भागवतमें लिखा है कि स्वायंभुवमन्वन्तरमें मनुजीकी देवहूति नामक कन्यासे, जो कर्दमजीको ब्याही थीं, जो नौ कन्याएँ कला, अनुसूया, श्रद्धा, हविर्भू, गति, क्रिया, ऊर्जा (अरुन्धती), चिति वा शान्ति और ख्याति हुईं, वे क्रमशः मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, क्रतु, वसिष्ठ, अथर्वण और भृगु इन नौ ब्रह्मर्षियोंसे ब्याही गयीं (भा० ३। २४। २२—२४, तथा भा० ४।१) प० पु० सृष्टिखण्डमें भृगु, वसिष्ठ, अत्रि आदि आठ मानसपुत्र दक्षके जामाता हैं। इनकी स्त्रियाँ प्रसूतिजीकी कन्याएँ लिखी हैं—यह किसी अन्य कल्पकी कथा जान पड़ती है। भृगुजीने त्रिदेवकी परीक्षा लेनेके विचारसे विष्णुभगवान्‌की छातीपर लात मारी थी। (भगवान्‌के वक्षःस्थलपर लक्ष्मीजीका निवास है। यहाँ लात मारनेका तात्पर्य यह है कि ब्राह्मणोंको विरक्त रहना चाहिये, उनको लक्ष्मीसे कुछ लगाव न रखना चाहिये। लोभको दबाये रखना

उचित है) स० सा० में लिखा है कि 'कोई इनको शिवजीका और कोई मनुजीका पुत्र कहते हैं। महाभारतमें लिखा है कि रुद्रने बड़ा यज्ञ किया था, उस समय ब्रह्माजीके वीर्यद्वारा अग्निशिखामेंसे इनकी उत्पत्ति हुई।' दैत्यगुरु शुक्राचार्य भृगुजीके पौत्र थे। परशुरामजी इन्हींके वंशमें हुए। मार्कण्डेयजी इनके प्रपौत्र थे। (भा० ४।१।४४-४५) इनकी कन्या श्रीविष्णुजीकी पत्नी हैं। ये ही फिर समुद्रसे प्रकट हुई थीं।

नोट—३ सुधाकर द्विवेदीजीका मत है कि 'भृगु (शुक्र) भूत, प्रेत और राक्षसोंके आचार्य हैं, इसलिये उनके कहनेसे सब शम्भुगण हार गये। इसलिये यज्ञकी सामग्री सुरक्षित रही।—परन्तु यह भाव भागवत और प० पु० के विरुद्ध है।'

समाचार सब संकर पाए। बीरभद्र करि कोप पठाए॥ १॥
जग्य बिधंस जाइ तिन्ह कीन्हा। सकल सुरन्ह बिधिवत फलु दीन्हा॥ २॥

अर्थ—महादेवजीने सब समाचार पाए। (उन्होंने) कुपित होकर वीरभद्रको भेजा॥ १॥ उन्होंने जाकर यज्ञ विध्वंस (नाश) कर डाला। समस्त देवताओंको विधिपूर्वक यथोचित फल (दण्ड) दिया॥ २॥

नोट—१ *'समाचार सब संकर पाए'* इति। **'भवो भवान्या निधनं प्रजापतेरसत्कृताया अवगम्य नारदात्। स्वपार्षदसैन्यं च तदध्वरर्भुभिर्विद्रावितं क्रोधमपारमादधे॥'** (भा० ४। ५। १) के अनुसार नारदजीने जाकर शङ्करजीसे सतीजीका दक्षसे अपमानित होनेके कारण शरीर छोड़ देने और ऋभुओंद्वारा उनके पार्षदोंकी सेनाके मार भगाये जानेका समाचार कहा।

सुधाकर द्विवेदीजी और बैजनाथजी आदि कुछ लोगोंका मत है कि जो हरगण सतीजीके साथ आये थे, वे ही मार भगाये जानेपर शङ्करजीके पास दौड़ गये और खबर दी। किसीका मत है कि आकाशवाणी हुई। बहुमत होनेसे ग्रन्थकारने किसीका नाम नहीं दिया।

'सब समाचार' अर्थात् *'दच्छत्रास काहु न सनमानी।'* (६३। १) से लेकर *'रच्छा कीन्हि मुनीस।'* (६४) तकका सब हाल।

नोट—२ *'बीरभद्र करि कोप पठाए'* इति। (क) काशीखण्ड अ० ८९ में लिखा है कि नारदजीने आकर सतीतन-त्यागकी कथा कही तब शङ्करजीने सुनकर यही कहा कि संसारकी यही व्यवस्था है। बुद्धिमानोंको इसमें मोह न करना चाहिये। इन बातोंको सुनकर नारदजीने कहा कि 'आपका कथन तो ठीक ही है, पर यह संसार ऐसा विलक्षण है कि सब यही समझेंगे कि महादेवजीमें कुछ पुरुषार्थ नहीं है। ऐसे देवकी पूजा हम क्या करें?' यह सुनकर उनको क्रोध आया और उसी क्रोधसे महाकाल अर्थात् वीरभद्र हुए। यथा—'**शरीरिणां स्थितिरियमुत्पत्तिप्रलयात्मिका। दिव्यान्यपि शरीराणि कालाद्यान्त्येवमेव हि॥ दृश्यं विनश्वरं सर्वं विशेषाद्यदनीश्वरम्। ततोऽत्र चित्रं किं ब्रह्मन् कं कालः कालयेन्न वै॥ अभाविनो हि भावस्य भावः क्वापि न संभवेत्। भाविनोऽपि हि नाभावस्ततो मुह्यन्ति नो बुधाः॥**······ **अहो बराकः संसारः क्व भविष्यत्यनीश्वरः। आरभ्याद्यदिनं न त्वामर्चयिष्यन्ति केऽपि यत्॥**' (५—७, ११) '······**रुद्रश्चातीव रुद्रोभद्रहुकोपाग्निदीपितः। ततस्तत्कोपजायेत राविरासीन्महाद्युतिः॥ प्रत्याक्षः प्रतिमाकारः कालमृत्युप्रकम्पनः॥**' इत्यादि। (मा० प०)। महेश्वर केदारखण्ड ३ में भी नारदसे समाचार पाना कहा है। शिवजीने क्रोधसे जटा उखाड़कर पर्वतपर पटकी जिससे वीरभद्र आदि उत्पन्न हो गये।

(ख) *'बीरभद्र करि कोप पठाए'* से सूचित हुआ कि कोपसे वीरभद्रकी उत्पत्ति हुई। *'बीरभद्र'* अर्थात् जिसका कल्याण कभी पराजित न हो सके। *'पठाए'* अर्थात् आज्ञा दी कि जाकर दक्षका बृहस्पति-सव नामक महायज्ञ विध्वंस करो और सबको दण्ड दो। (पं० रा० कु०) *'करि'* शब्दसे व्यञ्जित होता है कि वीरभद्रको उसी समय उत्पन्नकर उसको अपने गणोंका नायक बनाकर भेजा। *'करि कोप पठाए'* का भाव यह है कि भृगु आदि किसीके कहनेको न माने, जो बोले उसे मारे।' (मा० प०)

नोट—३ *'बीरभद्र करि कोप पठाए'* इति। श्रीमद्भागवतमें यह प्रसङ्ग इस तरह वर्णन किया गया है कि 'शिवजीने क्रुद्ध हो दाँतोंसे अपने ओठोंको चबाकर तत्क्षण सिरसे जटा उखाड़ी जो बिजली-सरीखी

चमकने लगी। फिर सहसा उठकर गम्भीर नादसे अट्टहास करके उस जटाको पृथ्वीपर पटक दिया। जिससे वीरभद्र प्रकट हुए। इनका शरीर बड़ा ही विशाल था, सहस्त्र भुजाएँ और सूर्यके समान तेजवाले तीन नेत्र थे, दाँत कराल, सिरके केश अग्निज्वाला-सदृश थे। श्यामवर्ण, मुण्डमाला पहने हुए और भुजाओंमें अस्त्र-शस्त्र लिये हुए थे। ये वीरभद्र हाथ जोड़े हुए शिवजीके समीप आ खड़े हुए और बोले कि 'भगवन्! क्या करनेकी मुझे आज्ञा होती है?' शिवजी बोले—'हे रुद्र! हे भट! तुम हमारे अंश हो, हमारे गणोंमें अग्रगण्य हो, जाकर दक्ष और उसके यज्ञको नष्ट करो।' कुपित शङ्करजीकी आज्ञा पा अपनेको कृतार्थ मान शिवजीको प्रणाम और परिक्रमा करके वे त्रिशूल उठाये हुए दक्षकी यज्ञशालाकी ओर दौड़ चले, साथमें अन्य शिवगण भी चले। नभ धूलिसे छा गया, यज्ञशालामें उपस्थित लोग सोचते हैं कि इस समय प्रलयके लक्षण हो रहे हैं। भूमि, आकाश और अन्तरिक्षमें महाघोर उत्पात होने लगे, जिन्हें देख दक्षका हृदय भी काँप उठा।

महाभारतमें वीरभद्रकी उत्पत्ति और साथके गणोंकी कथा कुछ भिन्न है। शान्तिपर्वमें वैशम्पायनजीने जनमेजयसे कहा है कि शङ्करजीने अपने मुखसे वीरभद्र नामक भयंकर भूतको प्रकट किया। उसका शौर्य, बल और रूप शङ्करके ही समान था। क्रोधका तो वह मूर्त्तिमान् स्वरूप ही था। उसके बल, वीर्य और पराक्रमकी सीमा ही न थी। यज्ञविध्वंसकी आज्ञा पानेपर उसने अपने शरीरके रोम-रोमसे 'रौम्य' नामक गण उत्पन्न किये, जो रुद्रके समान भयंकर, शक्तिशाली और पराक्रमी थे। वे महाकाय वीरगण सैकड़ों और हजारोंकी कई टोलियाँ बनाकर बड़ी फुर्तीके साथ यज्ञविध्वंस करनेके लिये टूट पड़े। भवानीके क्रोधसे उत्पन्न हुई महाकालीने भी सेवकोंसहित उसका साथ दिया था।

ग्रन्थोंमें भिन्न-भिन्न कथा होनेसे ही ग्रन्थकारने इतना ही लिखा कि *'बीरभद्र करि कोप पठाए॥ जग्य बिधंस जाइ तिन्ह कीन्हा।'* अन्य रुद्रपार्षदोंका साथ जाना अथवा न जाना न कहा और न यही कहा कि किस प्रकार यज्ञविध्वंस किया गया। इस प्रकार सभी पुराणोंकी सन्दर्भ कथाओंका समावेश इसमें हो सकता है।

नोट—४ *'जग्य बिधंस जाइ तिन्ह कीन्हा।'......'* इति। भा० ४। ५। १३, १४, १५ में यज्ञविध्वंसकी और श्लोक १६ से २६ तक *'सकल सुरन्ह बिधिवत फलु दीन्हा'* की कथा है। संक्षेपसे वह कथा इस प्रकार है—प्रथम तो रुद्रगणोंने जाकर यज्ञशालाको चारों ओरसे घेर लिया जिसमें कोई भाग न सके। फिर उनमेंसे कितनोंहीने प्राग्वंश (यज्ञशालाके पूर्व और पश्चिमके खम्भोंपर पूर्व-पश्चिम और आड़ा रखा हुआ काष्ठ) को तोड़ डाला, कितनोंने पत्नीशाला नष्ट कर दी, किन्हींने यज्ञशालाके सामनेका मण्डप और उसके आगेके हविर्धानोंको, किन्हींने यजमानगृहको और भोजनागारको विध्वस्त कर दिया। किन्हींने यज्ञके पात्र फोड़ डाले, किन्हींने अग्नि बुझा दी, किन्हींने यज्ञकुण्डोंमें मूत्र कर दिया और किन्हींने वेदीकी सीमाके सूत्रोंको तोड़ डाला। (१३—१५) कितनोंहीने मुनियोंको कष्ट देना आरम्भ किया, कोई स्त्रियोंको धमकाने लगे और किन्हींने अपने निकट ही भागते हुए देवताओंको पकड़ लिया। मणिमान् रुद्रगणने महर्षि भृगुको बाँध लिया और वीरभद्रने हाथमें स्रुवा लेकर भृगु ऋषिकी दाढ़ी-मूँछ उखाड़ ली, क्योंकि उन्होंने ब्रह्मसभामें तथा इस महायज्ञमें अपनी मूँछोंको मटकाते हुए और दाढ़ीको हिलाते हुए दक्ष—यजमानके वचनोंका अनुमोदन करते हुए श्रीशिवजीकी हँसी की थी। यज्ञमें पहुँचते ही वीरभद्रने दक्ष-प्रजापतिनायकको कैद कर लिया, चण्डीशने पूषाको और नन्दीश्वरने भगदेवको पकड़ लिया। उस समय सम्पूर्ण ऋत्विज्, सदस्य और देवतागण भगवान् शङ्करके पार्षदोंकी यह भयंकर लीला देख उनके कंकड़-पत्थर फेंकनेसे अति पीड़ित हो जैसे-तैसे वहाँसे भाग गये। तदनन्तर वीरभद्रने भगदेवको क्रोधपूर्वक पृथ्वीपर गिराकर उनकी आँखें निकाल लीं; क्योंकि उन्होंने ब्रह्मसभामें भगवान् शङ्करको बुरा-भला कहते और शाप देते हुए दक्षको आँखोंके इशारेसे उत्साहित किया था। यथा—**'भगस्य नेत्रे भगवान्पातितस्य रुषा भुवि। उज्जहार सदःस्थोऽक्ष्णा यः शपन्तमसूसुचत्॥'** (२०) फिर उन्होंने पूषाके दाँत उखाड़ डाले,

क्योंकि जब दक्ष शङ्करजीकी निन्दा कर रहा था और शाप दे रहा था उस समय वह बत्तीसी निकाले हँस रहा था—'**शप्यमाने गरिमणि योऽहसद्दर्शयन्दतः॥**' (२१) इसी प्रकार जिस अङ्गसे जो निन्दामें सम्मिलित हुआ था, उसको उसी अङ्गसे हीन कर दिया गया। तत्पश्चात् वीरभद्र दक्षको गिराकर उसकी छातीपर चढ़ बैठे और उसका गला काटने लगे, पर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे भी उसकी त्वचा (खाल) तक न कट सकी तब यज्ञमें पशुओंको गला घोंटकर मारनेका यन्त्र आदि उपाय ही देख उसी युक्तिसे उसके सिरको मरोड़कर धड़से अलगकर यज्ञकी दक्षिणाग्निमें डाल दिया, मानो इससे होमकुण्डकी पूर्णाहुति की। अन्तमें यज्ञशालाको जलाकर वे कैलाशको लौट गये। (२२—२६)

यज्ञमें जो ऋत्विज्, सदस्य और देवगण आये थे वे रुद्रपार्षदोंके त्रिशूल, पट्टिश, खड्ग, गदा, परिघ और मुद्गर आदि आयुधोंसे सर्वाङ्गमें छिन्न-भिन्न हो भाग गये थे। (भा० ४।६।१)

टिप्पणी—१ (क) *'जाइ तिन्ह कीन्हा'* से जनाया कि जो हरगण सतीजीके साथ गये थे, वे यज्ञ-विध्वंस न कर पाये थे, इसीसे इन्होंने जाकर प्रथम यही काम किया। भृगुजीने हरगणसे यज्ञकी रक्षा की थी, वे भी वीरभद्रसे यज्ञकी रक्षा न कर सके। (ख) *'सकल सुरन्ह'* से जनाया कि जो यज्ञशालामें निमन्त्रणमें जाकर बैठे थे, सबको दंड दिया; क्योंकि एक तो इन्होंने शिवनिन्दा की, दूसरे शिवजीके गणोंको मारा, तीसरे ये त्रिदेवको छोड़कर (उनका अपमानकर) यज्ञमें गये और चौथे सतीजीका शाप ही यह था कि *'सो फल तुरत लहब सब काहूँ।'* (ग) *'बिधिवत'* कहकर सूचित किया कि जिसने जैसा किया, उसको वैसा फल दिया। तात्पर्य कि जो हँसा था उसके दाँत तोड़े, जिसने हाथ उठाया उसका हाथ तोड़ा, जिसने नेत्रका इशारा किया कि गणोंको मारो उसके नेत्र निकाल लिये इत्यादि। जैसा नोट ३ में दिखाया गया है। 'विधिवत फल दिया' कहकर जनाया कि देवताओंके किये कुछ न हुआ।

भै जग-बिदित दच्छगति सोई। जसि कछु संभु बिमुख कै होई॥३॥
यह इतिहास सकल जग जानी। ताते मैं संछेप बखानी॥४॥

शब्दार्थ—इतिहास—'**धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्। पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते॥**' अर्थात् जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके उपदेशोंसे समन्वित और प्राचीन (सत्य) घटनाओंसे युक्त हो, उसे 'इतिहास' कहते हैं।

अर्थ—दक्षकी जगत्प्रसिद्ध वही दुर्दशा हुई जैसी कुछ शङ्करद्रोहीकी होती है॥३॥ यह इतिहास सारा संसार जानता है, इसीसे मैंने थोड़ेहीमें कहा॥४॥

टिप्पणी—१ *'भै जग-बिदित दच्छगति सोई।......'* इति। अर्थात् शम्भुविमुखकी बड़ी दुर्दशा होती है। जैसी शम्भुविमुख दक्षकी हुई ऐसी ही शम्भुविमुखकी होती है। *'जग-बिदित'* का भाव कि संसारभरमें उसकी अपकीर्त्ति हुई। [*'जग-बिदित'* का भाव यह भी है कि शंकरविमुखकी दशा क्या होती है यह जगत् जानता है। दक्षकी क्या दुर्गति हुई—यह (६५। १-२) नोट—३ और (६४। २) की टि० २ (ख) में आ चुकी है। शम्भुकी शरण जानेपर तो यह दशा हुई कि बकरेका सिर हुआ और भृगुजीकी बकरेकी-सी दाढ़ी हुई। शरण न जाता तो न जाने कितने कल्पोंतक रौरवनरक भोग करता *'जग-बिदित'* इससे भी कह सकते हैं कि बकरेका सिर लगानेपर दक्षने जीवित होकर बकरेका-सा ही शब्द किया था जिससे शिवजी प्रसन्न हो गये थे। इस शब्दसे भगवान् शङ्कर प्रसन्न होते हैं यह समझकर आज भी लोग शङ्करजीकी पूजाके अन्तमें बकरेका-सा शब्द करते हैं।]

टिप्पणी—२ *'यह इतिहास सकल जग जानी।......'* इति। (क) यह उक्ति याज्ञवल्क्यजीकी है कि और आचार्योंने इसे विस्तारसे कहा है, कथा प्रसिद्ध है। प्रसिद्ध कथाओंको (ग्रन्थकार) संक्षेपसे कहते हैं। यथा—*'जगु जान षन्मुख जन्म कर्मु प्रतापु पुरुषारथु महा। तेहि हेतु मैं बृषकेतुसुत कर चरित संछेपहि कहा॥'* (१०३) [संक्षेपसे बखान करनेका दूसरा भाव यह भी है कि तुलसीदासजी रामचरित-वर्णन करनेको

उद्यत हैं, वे शिवद्रोहीकी कथा नहीं कहना चाहते। आगे कहा भी है कि *'संकर प्रिय मम द्रोही सिवद्रोही मम दास। ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास॥'* (लं० २) वे चाहते हैं कि शीघ्र पार्वतीजीका जन्म हो और उमामहेश्वरसंवादसे श्रीरामचरितामृतधाराका प्रवाह बहे। इसलिये इस चौपाईसे दक्षकथा समाप्त कर दी। श्रीशिवपुराण, श्रीमद्भागवत, पद्मपुराण आदिमें कथा प्रसिद्ध होनेसे जगत्‌का जानना कहा।]—(मा० पी०) पुनः, *'संछेप बखानी'* से जनाया कि पुराणोंमें विस्तारसे है।

☞स्मरण रहे कि रामायण, महाभारत आदि हमारे यहाँके इतिहास ग्रन्थ हैं। आधुनिक इतिहासोंसे इन इतिहासोंमें बड़ी विलक्षणता यह है कि इनसे भगवान्‌के चरणोंमें प्रेम होता है। यथा—*'कहौं परम पुनीत इतिहासा। सुनत श्रवन छूटहिं भवपासा॥ उपजै प्रीति रामपद कंजा।'* हमारे इतिहास ब्रह्मज्ञानी, भगवद्भक्त, स्वाभाविक ही सदाचारपरायण, सत्यवादी ऋषियोंके लिखे होनेके कारण पढ़नेवालोंको भवपाशसे मुक्तकर उन्हें भगवान्‌का परम प्रेम प्रदान करते हैं। आधुनिक इतिहासोंमें तो केवल घटनाओं [वह भी सत्य हों या न हों, क्योंकि असलियत प्रायः छिपाई जाती है और तारीख और सनोंका ही उल्लेख मिलता है और प्रायः वे किसी-न-किसी सम्पर्कयुक्त व्यक्तिके लिखे होनेसे सर्वथा सत्य भी नहीं होते। (कल्याण १३।३)]

सतीमोह तथा देहोत्सर्ग प्रकरण समाप्त हुआ।

श्रीपार्वती-जन्म-तप (अर्थात् उमाचरित)—प्रकरण

सतीं मरत हरिसन बरु मागा। जनम-जनम सिव पद अनुरागा॥ ५॥
तेहि कारन हिमगिरि गृह जाई। जनमीं पारबती तनु पाई॥ ६॥

अर्थ—सतीजीने मरते समय श्रीरामचन्द्रजीसे वर माँगा कि जन्म-जन्म (प्रत्येक जन्म वा जन्मान्तरमें) मेरा अनुराग श्रीशिवजीके चरणोंमें हो॥ ५॥ इसी कारण उन्होंने हिमाचलके घर जाकर पार्वती-शरीर पाकर जन्म लिया॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'सतीं मरत हरिसन बरु मागा।'* इति। (क) ☞जहाँ तनका त्याग लिखा गया वहाँ वर माँगना नहीं लिखा गया। यहाँपर लिखनेसे पाया गया कि यह वर माँगा गया था। ग्रन्थकारने इस रीतिको बहुत स्थलोंपर बर्ता है। जो बात कहीं फिर लिखना जरूरी है उसे दोनों जगह न लिखकर दूसरी जगह लिख देते हैं। यथा—*'रामानुज लघु रेख खँचाई। सो नहि नाँघेहु असि मनुसाई॥'* (६।३५) अरण्यकाण्डमें रेख खींचना नहीं लिखा, लंकाकाण्डमें लिखा जिससे जाना गया कि रेख खँचाई थी। इसी तरह पार्वतीजन्मके हेतुमें यह बात पुनः कहनी थी; इसलिये मरते समय न कहकर केवल यहाँ कह दी। (ख) मरते समय वर माँगनेमें भाव यह है कि उस समय जो वासना होती है, वह दूसरे जन्ममें सिद्ध होती है, यथा—'**यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥**' (गीता ८। ६) (ग) *'जनम-जनम सिव पद अनुरागा॥'* इति। मरते समय शिवपदानुराग माँगनेमें भाव यह है कि योगाग्निसे शरीर जला देनेसे जीव हरिपदलीन हो जाता है और भेदभक्तिसे जीव हरिमें लीन नहीं होता। इसीसे शिवपदानुराग माँगा। पदानुराग भक्ति है और सतीजी शिवभक्त हैं ही। (घ) *'जनम-जनम'* का भाव कि भक्त मोक्षकी इच्छा नहीं करते। भक्तिके निमित्त अनेक जन्म चाहते हैं। यथा—*'जेहि जोनि जनमउँ कर्म बस तहँ रामपद अनुरागऊँ।'* (कि० १०) *'जेहि जेहि जोनि करम बस भ्रमहीं। तहँ तहँ ईसु देउ यह हमहीं॥ सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात यह ओर निबाहू॥'* (अ० २४) *'नाथ एक बर माँगउँ रामकृपा करि देहु। जनम जनम प्रभुपदकमल कबहुँ घटइ जनि नेहु॥'* (७।४९) (ङ) 'हरि' से वर माँगनेका भाव यह है कि शिवजीकी भक्ति हरिके देनेसे मिलती है। [परंतु मानसमें इसका प्रमाण हमारी समझमें नहीं है। शिवजीकी कृपासे हरिभक्तिकी प्राप्तिके प्रमाण तो बहुत-से हैं। सतीजीने दारुण दुःसह दुःखसे छुटकारेके

लिये भगवान्‌से ही पूर्व प्रार्थना की थी। यथा—*'जौं प्रभु दीन दयालु कहावा। आरतिहरन बेद जसु गावा॥ तौ मैं बिनय करौं कर जोरी। छूटौ बेगि देह यह मोरी॥'''''' तौ सबदरसी सुनिय प्रभु करौ सो बेगि उपाइ। होइ मरनु जेहि बिनहि श्रम दुसह बिपत्ति बिहाइ॥'* आर्तिहरण प्रभुने वह प्रार्थना सुनी और तुरंत सबका उपाय रच दिया कि शिवजीकी समाधि छूटी, दक्षयज्ञका आरम्भ हुआ और वहाँ बिना श्रम देहका त्याग हुआ। आर्तिहरणसे वर माँगनेके सम्बन्धसे 'हरि' शब्दका प्रयोग हुआ।]

प० प० प्र०—'हरिसे वर माँगनेमें हेतु यह भी है कि पहली बार भी शिवजी विवाह नहीं करना चाहते थे, किंतु ब्रह्मा और विष्णु आदिके अनुरोधसे ही उन्होंने विवाह किया। जिसकी ऐसी दशा हुई, अतः अब वे विवाह कदापि न करेंगे, यह सतीजी ठीक-ठीक जानती हैं, पर यह आशा है कि रामसेवक होनेके कारण शिवजी अपने उपास्य श्रीरामजीकी इच्छाका भङ्ग कदापि नहीं करेंगे। इसीसे '**रामाख्यमीशम्**' 'हरि' से प्रार्थना करके वर माँगती हैं। २ 'शिवपद अनुरागसे' यह भी जनाया कि ऐसा अनुराग हो कि अब कभी पतिके वचनोंमें अविश्वास करानेवाली मति न उत्पन्न हो। उस कुमति तथा रामविरोधी वृत्तिका आप हरण करें, क्योंकि आप हरि हैं।'

नोट—१ *'सतीं मरत हरिसन बरु मागा'*—इस प्रसंगमें 'हिन्दीनवरत्न' में मिश्रबन्धुओंने लिखा है कि 'यहाँपर हरिसे वर मँगवाना भी बेजा है।' परंतु इसमें क्या बेजा है, यह कुछ नहीं बताया। दोषोद्भावना करते हुए समालोचकको बताना चाहिये कि यदि कहीं किसी दोषकी सम्भावना है तो क्यों है, कैसे है? ऐसा करनेसे उसपर विचार करनेका मौका मिलता है। बिना सबूतके इलजाम लगाना कैसा है उसे कोई साधारण भी कानूनदाँ समझ सकता है। लेकिन दुःखकी बात है कि एक वादी और समालोचकके कर्त्तव्यको समझते हुए भी आपलोगोंने उसकी परवा न की।

अच्छा अब उस प्रसंगपर टुक (थोड़ा) विचार कीजिये। सतीजीके पिता दक्षने भगवान् शिवका (उनका भाग न देकर) अपमान करनेके अभिप्रायसे द्वेषबुद्धिपूर्वक यज्ञका अनुष्ठान किया। उन्हीं दिनों पतिसे परित्यक्ता होकर भगवती सती अत्यन्त दुःखसे काल-यापन कर रही थीं। पिताके यज्ञका समाचार सुनकर कुछ मन बहलानेके लिये वे अपने मायके गयीं। जब वहाँ यज्ञमें *'जगदातमा महेस पुरारी। जगतजनक सबके हितकारी॥'* का भाग नहीं देखा तब वे अत्यन्त संतप्त और विक्षुब्ध हुईं। पिताके यज्ञका उद्देश्य वे समझ गयीं और उनके इस मंद कृत्यपर उन्हें उनसे अत्यन्त घृणा एवं अमर्ष उत्पन्न हुआ। उसी समय उसी आवेशमें (जब कि प्रस्तुत मानसिक भाव अत्यन्त उत्कर्षको प्राप्त हो रहा था) सतीजीने योगाग्निमें दक्षशुक्र-सम्भूत अपनी देह जला दी।

आगे चलकर गोस्वामीजी कहते हैं—*'सतीं मरत हरिसन बरु मागा।'* श्रीसतीजी भगवान् शंकरकी वल्लभा थीं। उनका प्राणपतिके चरणोंमें अत्यन्त अनुराग था। फिर यह नितान्त स्वाभाविक है कि एक पतिप्राणा पतिव्रताशिरोमणि अपने अन्त समय जन्मान्तरमें भी अपने उसी प्राणेश्वर पतिको पानेके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करे। यही भगवती सतीने किया। कदाचित् आपका यह तर्क हो कि उन्हें भगवान् शिवहीसे (जब कि वे उन्हें 'जगदात्मा' जानती-मानती हैं) यह वर माँगना था। परंतु आपको यह भी समझना चाहिये कि निरतिशय प्रीतिमें माहात्म्यज्ञानका विस्मरण हो जाता है और विशेषकर ऐसे अवसरपर जब कि परमोत्कृष्ट भावावेश हो रहा हो। मनोभावके उस प्रबल प्रवाहमें बुद्धि बह जाती है, ज्ञान डूब जाता है और आत्मविस्मरण एवं संज्ञातक लीन हो जाती है। अत्यन्त दुःख या सुखमें ऐसा होता है। अनेक घटनाएँ ऐसी उपस्थित की जा सकती हैं। यह माधुर्य-चरित है। मनोविज्ञानके अनुसार यह सिद्धान्त है—'**भावोत्कर्षाज् ज्ञानाभावः।**' यदि 'हरि' शब्द आपको खटकता हो तो सामान्यतः ईश्वर और परमात्माका वह बोधक है और निर्दिष्ट स्थलपर इसी भावमें वह व्यवहृत हुआ है। उसके प्रयोगमें अनौचित्य क्या? उसकी गन्ध भी नहीं। (ब्रह्मचारी श्रीबिन्दुजी, साकेतवासी)

वीर कविजी लिखते हैं कि 'शिवजी रामभक्त हैं। सतीजीने यह सोचा कि पतिके उपास्यदेवके साथ मैंने अपराध किया है। बिना उनके क्षमा किये शिवजी न प्रसन्न होंगे। इसीसे उन्होंने भगवान्‌से वर

माँगा और अन्तमें भगवान्‌हीने शिवजीसे प्रार्थनाकर पार्वतीजीके साथ विवाह करनेको उन्हें राजी किया। इसमें बेजा कौन-सी बात है? इसको मिश्रबन्धु ही जानें, क्योंकि वे धुरन्धर समालोचक हैं।'

☞ जिसका अपराध किया जाय उसीकी क्षमासे अपराध क्षमा हो सकता है। अपराध किया श्रीरामजीका, तब शिवजी उसे क्षमा कैसे कर सकते हैं? देखिये, दुर्वासाजीको भगवान्‌ने क्षमा न किया, अम्बरीषजीके पास ही क्षमाके लिये भेजा। दूसरे, श्रीरामजी शिवजीके स्वामी हैं, वे दोनों अपराधोंको क्षमा कर सकते हैं। अतः उनसे प्रार्थना करना उचित ही था।

टिप्पणी—२ *'तेहि कारन हिमगिरि गृह जाई। जनमीं……'* इति। *'तेहि'* शब्द पूर्वकथित बातका बोधक है। अर्थात् भक्ति वर माँगा इस कारण जन्म हुआ। बिना तनके भक्ति नहीं होती। यथा—*'तजउँ न तन निज इच्छा मरना। तन बिनु बेद भजन नहिं बरना॥'* (उ० ९६) इसलिये तन धारण किया कि जिससे शिवजीकी भक्ति करें। *'तेहि कारन'* से केवल पुनर्जन्मके संदेहकी निवृत्ति की गयी। 'हिमाचलके यहाँ क्यों जन्म हुआ?'—इसका कारण यहाँ नहीं लिखा। शिवपुराणमें लिखा है कि हिमाचलने इनके लिये तप किया था कि ये हमारी पुत्री हों इससे इनके यहाँ आकर जन्म लिया। *'जनमी जाइ'* अर्थात् अपनी इच्छासे वहाँ जाकर अवतरीं, कर्मवश नहीं। यथा—*'जगसंभव पालन लय कारिनि। निज इच्छा लीला-बपु-धारिनि॥'* (९८)

नोट—२ हिमाचलके यहाँ क्यों जन्म लिया, इसके अनेक भाव महानुभावोंने लिखे हैं—

(क) 'मानस-अभिप्राय दीपककार' लिखते हैं कि 'इन शब्दोंसे ज्ञात होता है कि सतीजीने यह भी वर माँग लिया था कि हिमाचलपर्वतपर मेरा जन्म हो। यदि यह कहा जाय कि शिवपदमें अनुराग होना माँगा, अतः हिमालयमें जन्म हुआ तो यह कहना असंगत होगा, क्योंकि हिमालयमें ही जन्म लेनेसे तो शिवपदमें प्रीति होगी नहीं। हरिके आशीर्वादवश जहाँ भी जन्म हो वहाँ ही शिवपदमें प्रीति अवश्य होगी। अतः यह सिद्ध होता है कि उपर्युक्त दोनों चौपाइयोंमें यह ध्वनि सम्मिलित है कि शिवपदानुराग तो वर प्रसादवश अवश्य होगा, परन्तु हिमाचलमें जन्म लेनेसे वहाँ शिवपदप्रेमोत्पादक बहुत पदार्थ हैं। अतएव प्रेम शीघ्र होना सम्भव है।'

(ख) 'सतीजी चार अग्निमें जली हैं। एक तो विरहानलमें; यथा—*'तपै अवाँ इव उर अधिकाई।'* दूसरे, यज्ञानलमें अर्थात् यज्ञमें भाग न देखकर अपमान समझकर, यथा—*'प्रभु अपमान समुझि उर दहेऊ।'* तीसरे, क्रोधानलमें, यथा—*'बोलीं बचन सक्रोध'* चौथे, योगानलमें—(६३।४—६) भी देखिये। इससे इनको अधिक शीतलताकी आवश्यकता है। शीतलता प्राप्त करनेके लिये यहाँ प्रकट हुईं।' (मा० प०)

(ग) 'पति-वियोग और पति-अपमानरूपी अग्निसे हृदय जलता था, यहाँ जन्म लेकर हृदयका दाह बुझाया। वा पहले महाभिमानी दक्षके यहाँ जन्म लेनेसे मुझसे भी पतिका अपमान हुआ, यह विचारकर अब ऐसेसे पैदा हुईं जिसका मन सदा शीतल रहे, कभी गर्म न हो।' (सु० द्विवेदी)

(घ) 'हिमालय शिवजीका अत्यन्त प्रेमी था इससे अथवा, पर्वतकी तरह शिवचरणमें अपनी बुद्धि स्थिर करनेके लिये पर्वतराजके यहाँ जन्मीं।' (सू० प्र० मिश्र)

(च) 'यहाँ बालपनेसे स्वाभाविक ही तप होता रहेगा। अथवा यह विचारकर कि हिम-ऋतु बड़ी विषम है, इसमें वृक्ष पल्लव नहीं लेते, पक्षी अण्डा नहीं देते, सर्प-बिच्छू आदि विषम जीव लुके रहते हैं—हिमालयके घर तपहेतु जन्म लिया।' (शीलावृत्ति)

☞ दासकी क्षुद्र बुद्धिमें तो यह आता है कि विरह आदि तापें ऊपरकी ठंढसे नहीं मिट सकतीं। मुख्य कारण यह जान पड़ता है कि भगवतीने 'हरि' से शिवपदानुराग माँगा अतः 'हरि' ने यह स्थान सब भाँति इनके अगले जन्म-चरित्रके योग्य समझकर यहाँ जन्म दिया। यह तपोभूमि है। कैलासका इससे सम्बन्ध है।—*'हरि इच्छा भावी बलवाना।'* अथवा यह भी हो सकता है कि भगवतीने अपनी इच्छासे यहाँ जन्म लिया। यथा—*'निज इच्छा लीला बपु धारिनि।……अब जनमि तुम्हरें भवन निज पति लागि*

दारुन तपु किया ।।' (९८) कोई आवश्यकता 'जन्मस्थान' के लिये वर माँगनेकी प्रतीत नहीं होती। और, यों तो जहाँ भी जन्म होता वहाँके ही विषयमें शंका उठ सकती थी। पं० रामकुमारजीका भाव ठीक है जो टिप्पणी २ में है।

श्रीजानकीशरणजीका मत है कि विरहादिक तापोंके ऊपरके ठंढसे मिटनेमें संदेह नहीं करना चाहिये। 'अग्निसे जलनेपर वैद्यकशास्त्रानुकूल हिमालयसे कटकर जो ओला मेघद्वारा वर्षाके साथ गिरता है वह तापनाशक श्रेष्ठ ओषधि है।' (मा० मा०)

नोट—३ *'हिमगिरि'* से जड़ पर्वत न समझना चाहिये वरञ्च हिमालय पर्वतके राजा या अधिष्ठातृ देवता समझना चाहिये। जैसे इंगलैण्ड और जर्मनीके लड़ाईसे वहाँके राजाओंकी लड़ाईका अर्थ होता है। जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि और पवन तत्त्वोंका एक अचर रूप होता है जो सबको दृष्टिगोचर होता है और एक-एक चर वा देवशरीर होता है, जिससे उन तत्त्वोंका नियमानुसार सञ्चालन होता है। उदाहरणार्थ समुद्र जलतत्त्व है, यह उसका एक स्थूल रूप है। वह समुद्र विप्ररूपसे भगवान् रामजीके सामने भेंट लेकर आया, यथा—*'कनक थार भरि मनिगन नाना। बिप्ररूप आयउ तजि माना॥'* (५। ५८) और वरुण जलतत्त्वके अधिकारी देवता हैं। पृथ्वीका स्थूल रूप सब देखते हैं। वह गो-तनधारी होकर ब्रह्माजीके पास गयी थी। अग्नि और पवनका स्थूल रूप नित्य अनुभवमें आता है। अग्नि देवरूपसे दशरथजीके पुत्रेष्टि यज्ञमें हवि लेकर आये तथा लंकामें सीताजीको लाकर श्रीरामजीको सौंपा यथा—*'प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हें।''''''यह हबि बाँटि देहु नृप जाई॥''''''तब अदृश्य भए पावक''''''॥'* (१। १८९) *'धरि रूप पावक पानि गहि श्री''''''॥'* (६। १०८) इसी तरह पवनके अधिष्ठातृ देवता वायुलोकमें रहते हैं, जिसकी चर्चा हनुमान्‌जीके बालकेलि-प्रसंगमें आयी है।—इसी प्रकार पर्वतोंके अधिकारी देवता हिमाचल हो सकते हैं।

मानसतत्त्वविवरणकार लिखते हैं कि 'हिमालय अधिष्ठानरूप देवताके घर जाकर अर्थात् जयदुर्गारूप होकर शिवजीका सतीजन्यवियोग दूरकर हिमाचलके यहाँ प्रकट हुईं। लिङ्गपुराणानुसार हिमालयका जन्म शिवजीके दाहिने बगलसे पाया जाता है। इसलिये यह कोई तेजस्वी पुरुष है। स्थूलदर्शी पुरुषोंको पर्वतमात्र देख पड़ता रहा, जैसा सिद्धिके परत्वमें कहा है। यथार्थमें वह एक राजा था। देवीभागवतमें इसका भगवतीको ज्ञान बतलाना और हिमालयपरत्वका वर्णन है। पुन: हिमगिरि नामक देवता समझ लें। अत: उसके गृहमें जन्म कहा। ये सब उपर्युक्त अर्थ इसी ग्रन्थसे प्रमाणित होते हैं, यथा—*'जब तें उमा सैल गृह जाईं', 'तुम सहित गिरि ते गिरउँ'* इत्यादि। अथवा यह देव-विवाहका देशकाल है। इससे सूक्ष्मसृष्टिमें सारे कार्यका होना सिद्ध है। अत: हिमालय नामका राजा उसी सृष्टिका रहा, पर्वत उसका गृह था जैसे जलमें वरुण।' (संतउन्मुनी टीका)

नोट—४ रुद्रप्रयागसे पैंतालीस मील उत्तर एक 'गौरीकुण्ड' है। वहाँपर श्रीगौरीदेवीका मन्दिर और दो कुण्ड हैं—एक शीतल और दूसरा अत्यन्त तप्त, खारे और पीतवर्ण जलका। इस स्थानको पार्वती-जन्म-भूमि कहा जाता है। हिमाचलराज यहाँ अपनी पत्नी मैनाजीसहित महल बनाकर रहते थे। गौरीकुण्डसे पाँच मीलपर त्रियुगीनारायण नामक स्थान शिवपार्वती-विवाहमण्डप कहा जाता है। सम्भवत: गौरीकुण्डसे वहाँतक बसती रही हो। (बे० भू०) (दोहा ८२। १-२) भी देखिये। (वि० त्रि० का मत है कि 'चैत्र शुक्ला नवमीको त्रेतायुगके आदिमें अर्धरात्रिके समय भगवतीका जन्म हुआ। मानसप्रकरणके हिम ऋतुका आरम्भ सूचित करते हैं।—*'हिम हिमसैलसुता सिव ब्याहू।')*

टिप्पणी—३ *'जनमीं पारबती तनु पाई'* इति। (क) पार्वती-तन पाकर जन्म लेनेका तात्पर्य यह है कि पर्वतराजके यहाँ उत्पन्न हुईं, इससे पार्वती कहलायीं। पर्वतसे नदियाँ प्रकट होती हैं; यथा—*'पाप पहार प्रगट भइ सोई।'* (अयो०) अत: *'पारबती तनु'* कहकर जनाया कि नदीरूपसे प्रकट हुई हों, सो न समझो; वे शरीरधारी होकर प्रकट हुईं। (ख) [बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि *'तनु पाई'* का भाव यह है कि 'नरदेह' धारण की। दु:ख सहनेके लिये तथा शिवभक्ति और तप करनेके लिये नरदेह धरी, नहीं तो पर्वतकी कन्याका तो पर्वतरूप ही उचित था।' (शीलावृत्ति)]

जब तें उमा सैल गृह जाईं। सकल सिद्धि संपति तहँ छाईं॥ ७॥
जहँ तहँ मुनिन्ह सुआश्रम कीन्हे। उचित बास हिमभूधर दीन्हे॥ ८॥

अर्थ—जबसे उमाजी हिमाचलके घर पैदा हुईं तबसे वहाँ सारी सिद्धियाँ और सम्पत्ति छा गयीं॥ ७॥ मुनियोंने जहाँ-तहाँ सुन्दर आश्रम बना लिये। हिमाचलने (सबको) उचित स्थान (आश्रमके लिये) दिये॥ ८॥

नोट—'*जब तें उमा सैल गृह जाईं।*……' इति। (क) ☞घरमें भाग्यशालीके आते ही पिताके ऐश्वर्यका उदय होता है, जैसे श्रीजानकीजीके आविर्भावसे श्रीजनकमहाराजका। यथा—'*तब तें दिनदिन उदय जनक की जब तें जानकि जाई।*' (गी० बा०) पार्वतीजीके जन्मसम्बन्धसे पर्वतराजका सम्पत्तिवान् होनेका वर्णन 'प्रथम उल्लास अलंकार' है। देखिये श्रीसीतारामजीके संसर्गसे चित्रकूट, दण्डकवन, प्रवर्षणगिरि और सुबेल पर्वत आदिकी कैसी व्यवस्था हो गयी? सत्पुरुषोंके संसर्गसे जड़ भी सुखदायी हो जाते हैं। यथा—'*जब तें आइ रहे रघुनायक। तब तें भयउ बन मंगलदायक॥ फूलहिं फलहिं बिटप बिधि नाना।*……*करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिचरहिं सब संगा॥*……*महिमा कहिअ कवनि बिधि तासू। सुखसागर जहँ कीन्ह निवासू॥*' (अयो० १३७। ५ से १३९। ४ तक)—यह चित्रकूटका वर्णन है। इसी तरह '*मंगलरूप भयउ बन तब तें। कीन्ह निवास रमापति जब तें॥*' (प्रवर्षणगिरि ३। १३) और '*सब तरु फरे राम हित लागी। रितु अरु कुरितु काल गति त्यागी॥*' (लं० ४। ५) इत्यादि। (ख) 'जाना'=जन्म लेना, जन्म देना। 'छाना'=भरपूर होना, छावनी डाल देना, स्थिर होना। (ग) 'उमा' अर्थात् उ (शिवकी) मा (लक्ष्मी) शिवजीकी लक्ष्मी हैं जो सिद्धियोंकी जननी हैं। माताने यहाँ जन्म लिया, अतः उनके साथ सिद्धियाँ और सम्पत्ति भी यहाँ आकर बस गयीं। (मा० प०) (घ) '*सकल सिद्धि*'=अष्ट सिद्धियाँ। '*संपति*'=नव निधियाँ। '*सकल सिद्धि संपति तहँ छाईं*' का भाव कि पहले कुछ ही थीं अब सब पार्वतीजीकी सेवाके लिये आकर बस गयीं। अथवा पूर्व सब थीं, पर स्थिररूपसे नहीं और अब स्थिररूपसे बस गयीं। (पं० रा० कु०)

टिप्पणी—१ '*जहँ तहँ मुनिन्ह सुआश्रम कीन्हे।*……' इति। (क) इससे जनाया कि पर्वत अत्यन्त रमणीय हो गया। (क्योंकि मुनियोंके आश्रम रमणीय स्थानोंमें प्रायः होते हैं)। '*सुआश्रम कीन्हे*' का भाव कि अन्यत्र जहाँ रहते थे, वे स्थान ऐसे रमणीय न थे। वहाँ आश्रम थे और यहाँ 'सु' (सुन्दर) आश्रम बने। '*कीन्हे*' शब्दसे जनाया कि यहाँ अब बहुत दिनोंतक निवास करनेका विचार किया है। इसे सिद्धपीठ जानकर यहाँ निवास करेंगे। '*जहँ तहँ*' का भाव कि मुनियोंके आश्रम पृथक्-पृथक् तथा भिन्न-भिन्न होते हैं। (ख) '*उचित बास हिमभूधर दीन्हे*' इति। '*बास*' देनेका भाव कि हिम (बर्फ) के कारण वहाँ निवास नहीं हो सकता था, इसलिये हिमालय स्फटिकमणिके समान हो गया, पृथ्वी सम हो गयी। '*उचित*' अर्थात् यथायोग्य। इससे जनाया कि सबके आश्रमोंकी जगह एक-सी न थी। जो जिस योग्य था उसको वैसा स्थान आश्रमके लिये मिला।

दो०—सदा सुमन फल सहित सब द्रुम नव नाना जाति।
प्रगटीं सुंदर सैल पर मनि आकर बहु भाँति॥ ६५॥

अर्थ—उस सुन्दर पर्वतपर अनेक जातिके सब नये-नये वृक्ष सदा फूल-फल-सम्पन्न रहने लगे और बहुत प्रकारकी मणियोंकी सुन्दर खानें प्रकट हो गयीं॥ ६५॥

टिप्पणी—१ '*सदा सुमन फल सहित*' इति। फल-फूल दोनोंका साथ-साथ एक ही समय होना प्रायः देखा नहीं जाता। उसपर भी सभी वृक्षोंका सदा हरे-भरे, फूलते-फलते रहना यह तो असम्भव ही है। सब वृक्ष सदा नहीं फूलते-फलते, कोई फूलता है या फलता ही है, इस रीतिसे वनमें सदा फल-फूल बना रहता है, किन्तु वहाँ सब कालोंमें, सब वृक्षोंमें नवीन पल्लव, फूल और फल होते हैं, यह

सर्वत्रसे विलक्षणता है। यह पार्वतीजन्मकी महिमा है। '*नव*' के दो अर्थ हैं—(१) नवीन। (२) नम्र होना। झुकना। इस तरह पूर्वार्धका दूसरा अर्थ यह भी होता है कि 'सदा फूल-फलसे लदे होनेसे सब वृक्ष झुके हुए हैं। यथा—'*फल भारन नमि बिटप सब रहे भूमि निअराइ।*' (अ० ४०) इससे जनाया कि वहाँ सदा वसन्त बना रहता है।

'*प्रगटीं सुंदर सैल पर*……' इति। प्राय: खान खोदनेसे मणि प्रकट होती हैं, किंतु यहाँ बिना खोदे स्वयं प्रकट हो गयी हैं। यथा—'*बन कुसुमित गिरिगन मनिआरा। श्रवहिं सकल सरितामृतधारा॥*' पर्वतके ऊपर वृक्ष फूल-फल रहे हैं, वृक्षके नीचे मणियाँ बिखरी पड़ी हैं।—यह पहाड़के बाहरका हाल कहा और '*प्रगटीं सुंदर सैल पर मनि आकर*……' यह पर्वतके भीतरका हाल कहा। '*प्रगटीं*' कहनेका भाव कि खानें गुप्त होती हैं, मर्मी ही जानते हैं किन्तु यहाँ जो गुप्त थीं वे भी प्रकट हो गयीं।

नोट—प्रथम कहा कि उमाके जन्मसे सब सिद्धियाँ और निधियाँ आ बसीं। अब उन सिद्धियोंका ऐश्वर्य फल-फूल नवपल्लवयुक्त नये-नये वृक्ष, मणिकी खानें इत्यादिका प्रकट होना कहा। (मा० प०) सिद्धियोंका छा जाना कहकर सिद्धिप्राप्तिके इच्छुकों (मुनियों) का आ बसना कहा और आगे इनके सत्कारके लिये फूल-फलादिका सदैव रहना कहते हैं (वि० त्रि०)

सरिता सब पुनीत जलु बहहीं। खग मृग मधुप सुखी सब रहहीं॥ १॥
सहज बयरु सब जीवन्ह* त्यागा। गिरि पर सकल करहिं अनुरागा॥ २॥

अर्थ—सब नदियाँ पवित्र (मधुर अमृतसमान) जल बहती हैं। पक्षी, पशु और भौंरे सभी सुखी रहते हैं॥ १॥ सब जीवोंने अपना स्वाभाविक वैर छोड़ दिया। सब पर्वतपर प्रेम करते हैं॥ २॥

नोट—१ '*सरिता सब*'—अर्थात् भागीरथी, मन्दाकिनी, अलकनन्दा, यमुना, शेषगङ्गा, स्वर्णगङ्गा, विष्णुगङ्गा, रामगङ्गा, व्यासगङ्गा, नन्दागङ्गा, गरुड़गङ्गा, वीरगङ्गा, पातालगङ्गा और तुङ्गभद्रा इत्यादि। सू० प्र० मिश्रजीका मत है कि यहाँ गङ्गाको छोड़कर अन्य सब नदियोंका ग्रहण है, क्योंकि गङ्गाजी तो हरिहरविधि रूपा शुभवर्णा स्वयं हैं। इस तरह भाव यह हुआ कि पहले तो गङ्गा आदि दो-एक नदियाँ ही पवित्र जल बहती थीं, अब सभी नदियोंमें पुनीत जल बहता है।

टिप्पणी—१ (क) पर्वतसे नदीकी उत्पत्ति है। अत: प्रथम पर्वतका वर्णन करके पीछे नदीका वर्णन कहते हैं। '*पुनीत*' से यहाँ 'मधुर, मीठा' अर्थ लेना होगा, यथा—'**पुनीत मधुरं मिष्टम्**'। ['*पुनीत*' से पावन करनेवाला, पापनाशक एवं अमृतसमान भी अर्थ ले सकते हैं। यथा—'*श्रवहिं सकल सरितामृतधारा।*'] (ख) वृक्ष, फूल और फल कह आये। अब उनके आश्रित '*खग मृग मधुप*' को कहते हैं। सुमन, फल, वृक्ष और जल ये सब खगमृगादिके सुखके हेतु हैं। सुमनसे मधुप सुखी, फलसे पक्षी सुखी, '*नाना नव द्रुम*' अर्थात् वनसे मृग सुखी। और भी सुखका हेतु आगे लिखते हैं कि '*सहज बयरु सब जीवन्ह त्यागा*'।—इस प्रकार सम्पूर्ण सुख वर्णन किया।

टिप्पणी—२ '*सहज बयरु सब जीवन्ह त्यागा।*……' इति। भाव कि स्वाभाविक वैरका त्याग करना कठिन है, जब उसीको त्याग दिया तब साधारण वैरका त्याग करना कौन बात है?—यह सब उमाजीकी महिमा है।—'**अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।**' (योगसूत्र) उमाजीके प्रभावसे काल, कर्म, गुण और स्वभाव बाधा नहीं करते।—यह बात यहाँ दिखायी है। '*सदा सुमन फल सहित सब द्रुम नव*'—यहाँ कालकी बाधा नहीं है, सब वृक्ष सब काल फूलते-फलते, हरितपल्लवयुक्त रहते हैं। '*खग मृग मधुप सुखी सब रहहीं*'—यहाँ कर्मकी बाधा नहीं होती। '*सरिता सब पुनीत जलु बहहीं*' यहाँ गुणकी बाधा नहीं, क्योंकि नदीमें अपुनीत जल भी बहता है, इसीसे कहा है कि '*समरथ कहुँ नहिं दोष गोसाईं।*

* जीवन्ह—१६६१, १७२१, १७६२। जीवइ—१७०४। जीवन—छ०।

रबि पावक सुरसरि की नाईं॥' 'सहज बयरु सब जीवन त्यागा।'—यहाँ स्वभावकी बाधा न हुई। और *'गिरि पर सकल करहिं अनुरागा।'* वैर छोड़कर सब परस्पर अनुराग करते हैं। जैसे कि रामराज्यमें—*'खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥'* (उ० २३) [इस प्रकार यहाँ प्रकृतिमें परिवर्तन दिखाया। खग-मृग एक-दूसरेसे भयभीत रहते हैं। यथा—*'सहबासी काचो गिलैं पुरजन पाक प्रवीन। कालछेप केहि बिधि करैं तुलसी खग मृग मीन॥'* मधुप मधु छीने जानेके भयसे दुर्गम स्थानोंमें छत्ते लगाते हैं, पर वहाँ भी बंदरोंकी बाधा रहती है *'सब जीवन्ह'* में काल-उलूक, अश्व-महिष, बाज-सिंह आदि भी आ गये। *'गिरि पर'* से जनाया कि पर्वतपर परस्परका वैर नहीं रह गया, पर पर्वतके नीचे आनेपर वह सहज वैर हो जाता था। (वि० त्रि०)]

नोट—२ सृष्टि दो प्रकारकी होती है, स्थावर और जंगम। यहाँ ग्रन्थकार दिखाते हैं कि स्थावरात्मक और जंगमात्मक दोनों प्रकारकी सृष्टियाँ पार्वतीजीके संयोगसे सुखी हैं। यथा—कुमारसम्भव—'**शरीरिणां स्थावरजङ्गमानां सुखाय तज्जन्मदिनं बभूव।**' वृक्ष और सरिता आदि स्थावर हैं। खग, मृग आदि जंगम हैं। (मा० प०)

नोट—३ *'सहज बयरु……'* इति। नीतिवादियोंका सिद्धान्त है कि सहज वैर जीवनपर्यन्त कथमपि नहीं जाता। यथा—'**प्राणदानं विना वैरं सहजं याति न क्षयम्।**' ऐसे वैरको छोड़ दिया तो क्या उदासीन हो गये? नहीं। वे शत्रुके साथ भी प्रेम करने लगे। इसका हेतु यह है कि सिद्धियोंकी माता पार्वतीजीकी बाललीला देखकर सब मोहित हो गये। हाथी, सिंह, घोड़े-भैंसे, गाय-बाघ, सर्प-नकुल इत्यादि सब पार्वतीकी लीला (देखनेमें बाधा न हो, इसलिये आपसमें मेल करके) देख-देख आनन्दित होने लगे। (मा० प०) पर ऐसा मान लेनेपर यह कहना आवश्यक हुआ कि वाल्मीकि-आश्रममें किसकी बाल-लीलासे मोहित हुए। (प० प० प्र०)

सोह सैल गिरिजा गृह आएँ। जिमि जनु रामभगति के पाएँ॥ ३॥
नित नूतन मंगल गृह तासू। ब्रह्मादिक गावहिं जसु जासू॥ ४॥

अर्थ—घरमें पार्वतीजीके आनेसे पर्वत (ऐसा) शोभायमान हो रहा है जैसा रामभक्तिके पानेसे भक्त सुशोभित होता है॥ ३॥ उसके घरमें नित्य नये मङ्गलोत्सव होते हैं, ब्रह्मादि (देवता) जिसका यश गाते हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'सोह सैल गिरिजा गृह आएँ……'* शैलकी शोभा *'सकल सिद्धि संपति तहँ छाईं'* से लेकर *'गिरि पर सकल करहिं अनुरागा'* तक कह आये। सब सिद्धियों और नवनिधियोंका आ बसना शैलकी शोभा है। मुनियोंके सुन्दर आश्रमोंसे शैलकी शोभा है। सब वृक्षोंके नवीन पल्लव, फूल और फलोंसे सम्पन्न होनेसे शैलकी शोभा है। मणियोंकी खानोंके प्रकट होनेसे शैलकी शोभा है। इसी तरह नदियोंके बहने और अनेक पक्षियोंके विहारसे शैलकी शोभा है, इत्यादि। यह शोभा गिरिजाके आगमनसे प्राप्त हुई। इस शोभाका मिलान श्रीरामभक्तकी शोभासे करते हैं *'जिमि जनु रामभगति के पाएँ'* कहनेसे स्पष्ट है कि शैलराज और जन (भक्त, संत), गिरिजा और रामभक्ति उपमेय-उपमान हैं।

प० प० प्र०—*'सोह सैल……पाएँ'* इस पुरइनका कमल किष्किन्धाकाण्डमें फूला है। यथा—*'जिमि हरिभगति पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चारि।'* (४। १६) *'कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी।'* (४। १६। १०) इस प्रकार भाव यह हुआ कि शैलराजका गृहस्थाश्रम धन्य हुआ, कृतार्थ हुआ। गृहस्थाश्रमके श्रमोंकी पूर्ण सफलता हुई। उनके गृहस्थाश्रमोंके श्रमोंकी परिसमाप्ति हुई और पूरा विश्राम मिल गया। यहाँ गिरिजा रामभक्तिके समान हैं और हिमाचलराज उनके पिता आश्रमी रामभक्तके समान हैं।

* शैलराज और रामभक्त (संत) का मिलान *

(क) शैल संत हैं। दोनों परोपकारी हैं, यह समानता है। यथा—'*संत बिपट सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी॥*' (उ० १२५) तथा '*पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥*' (उ० १२१)

(ख) जैसे गिरिराज संतके स्वरूप हैं, वैसे ही गिरिजाजी श्रीरामभक्तिरूपा हैं। शैलराजके घर उमा आयीं। संतके हृदयरूपी घरमें रामभक्ति आती है।

(ग) शैलके यहाँ ऋद्धि-सिद्धि संपति छाईं। रामभक्तके यहाँ ऋद्धि-सिद्धि बिना बुलाये आ जाती हैं। यथा—'*कृपिन देइ पाइय परी बिनु साधन सिधि होइ।*' तथा '*छाँछ को ललात जे ते रामनामके प्रसाद खात हुनसात सोंधे दूधकी मलाई।*' (क० उ०) सब सिद्धियाँ संतके वशमें रहती हैं।

(घ) शैलराजका देश पर्वत। संतका देश उसका हृदय है, यथा—'*संकर हृदय भगति भूतलपर प्रेम अखयबट राजै।*' (गी० उ०)

(ङ) शैलके यहाँ मुनियोंके आश्रम, वैसे ही संतके यहाँ मुनियोंका समाज सदा रहता है। अयोध्याजीके प्रसिद्ध महात्मा बाबा रघुनाथदासजी (बड़ी छावनी), बाबा वैष्णवदासजी, (श्रीमणिरामदासजीकी छावनी) पटनाके बाबा भीष्मदासजी आदि इसके जीते-जागते उदाहरण हैं।

(च) जैसे शैलके यहाँ '*सदा सुमन फल सहित द्रुम*' वैसे ही संतके यहाँ भी।

(छ) शैलपर '*मनि आकर बहु भाँति*', वैसे ही संतके हृदयमें नाना गुण।

(ज) शैलके यहाँ नदी मधुर जल बहती है। संतके आश्रममें सदा स्वच्छ मधुर जल बहता है।

(झ) दोनोंके यहाँ पक्षी सुखी रहते हैं। यथा—'*मुनिगन निकट बिहँग मृग जाहीं।*'

(ञ) दोनोंके यहाँ वैर त्यागकर सब जीव बसते हैं।

(ट) दोनोंपर सबका अनुराग है।

(ठ) गिरिजाके आगमनसे शैलकी शोभा, रामभक्तिके पानेसे भक्तकी शोभा। रामभक्तिके पीछे सब पदार्थ लगे रहते हैं।

(ड) दोनोंके यहाँ नूतन मङ्गल।

(ढ) दोनोंका यश ब्रह्मादि गाते हैं।

नोट—१ सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं—'शबरीकी कथा अरण्यकाण्डमें प्रसिद्ध है। भक्ति होनेके बाद भक्तकी क्या दशा होती है यह 'भक्तिरसायन' में इस प्रकार वर्णित है, यथा—'**यद् ब्रह्मनाम चरणैषणयोरुभक्त्या चेतोमलानि विधमेद्गुणकर्मजानि। तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं साक्षाद्यथामलदृशोः सवितृप्रकाशः॥ यथाऽग्निना हेममलं जहाति ध्मातं पुनः संलभते स्वरूपम्। आत्मा च कर्मानुशयं विधूय मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम्॥ यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः। तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसंप्रयुक्तम्॥ विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते। मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥**' (१—४) अर्थात् जिनकी भक्तिसे चित्तके मल नष्ट हो जाते हैं और तब हृदयमें आत्मतत्त्वका अनुभव उसी प्रकार हो जाता है जैसे कि नेत्रोंके निर्मल होनेसे सूर्य-प्रकाशका अनुभव होता है। जैसे अग्निसे स्वर्ण शुद्ध हो जाता है वैसे ही मेरे भक्तियोगसे मनुष्यका आत्मा कर्ममलको भस्म करके अपने स्वरूपको प्राप्त होकर तब मेरा भजन करता है। मेरी पुण्यकथा श्रवण और नामस्मरणसे आत्मा जैसे-जैसे शुद्ध होता जाता है वैसे-ही-वैसे वह सूक्ष्म वस्तुका अनुभव करता जाता है, जैसे कि अञ्जन लगानेसे आँख सूक्ष्मदर्शक होती जाती है। जैसे विषयोंके ध्यान करनेवालेका चित्त विषयोंमें संलग्न हो जाता है। वैसे ही मेरा स्मरण करनेवालेका चित्त मुझमें संलग्न हो जाता है।

नोट—२ सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'रामभक्ति पानेसे जनकी शोभा बढ़ती है। प्रह्लाद राक्षसकुलके थे। रामभक्तिसे ऐसी शोभा बढ़ी कि लोग प्रातःकालमें उनके नामका स्मरण करने लगे। ('प्रह्लाद-नारद-पराशर·····')

दासीपुत्र नारद रामभक्तिके कारण देवर्षि हो गये। निषाद भक्तिहीके कारण रामसखा हुए। इत्यादि।—ऐसे अनेक उदाहरण हैं। पार्वतीजीके ही प्रश्न और महादेवजीके उत्तरसे आगे रामभक्ति-कथा उत्पन्न होगी। इसलिये पार्वती रामभक्तिमय हैं। उनके आनेसे हिमालय भी पूर्ण रामभक्ति पा गये। इसलिये जगत्-मान्य हुए।'

नोट—३—यहाँ उदाहरण अलङ्कार है।

नोट—४ श्रीरामभक्ति बहुत दुर्लभ पदार्थ है। जगदम्बा श्रीपार्वतीने शिवजीसे श्रीरामभक्तिकी दुर्लभता वर्णन करते हुए प्रश्न किया है कि ऐसी भक्ति कागको क्यों और कैसे मिली? यथा—*'नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धरमब्रतधारी॥ धरमसील कोटिक महँ कोई। बिषय बिमुख बिरागरत होई॥ कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक ज्ञान सकृत कोउ लहई॥ ज्ञानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ॥ तिन्ह सहस्र महुँ सब सुख खानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिग्यानी॥ धरमसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी॥ सब तें सो दुर्लभ सुरराया। राम भगतिरत गत मद माया॥ सो हरि भगति काग किमि पाई।'* (उ० ५४) प्रभुकी भक्ति क्या है, उसके क्या लक्षण हैं, यह स्वयं श्रीरामचन्द्रजीने अपने मुखारविन्दसे पुरजनोंको बताया है। यथा—*'कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥ सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई॥ मोरे दास कहाइ नर आसा। करइ तो कहहु कहा बिस्वासा॥ बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई। एहि आचरन बस्य मैं भाई॥ बयरु न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा॥ अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी॥ प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृनसम बिषय स्वर्ग अपबर्गा॥ भगति पच्छ हठ नहिं सठताई। दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई॥ मम गुनग्राम नाम रत गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह॥'* (उ० ४६) और इसकी प्राप्तिके उपाय भी बताये हैं कि द्विज-सेवा करे, इसका फल सन्तदर्शन होगा और सन्तोंके सत्सङ्गसे भक्ति प्राप्त होगी। पुनः, शङ्कर-भजनसे भी प्राप्ति बतायी है। भक्तिकी प्राप्ति होनेपर क्या होता है यह उत्तरकाण्डमें भुशुण्डिजीने बता दिया है। *'मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा॥ प्रबल अबिद्यातम मिटि जाई।'……खलकामादि निकट नहिं जाहीं। गरल सुधा सम अरि हित होई।'…… ब्यापहिं मानसरोग न भारी। जिन्ह के बस सब जीव दुखारी॥ रामभगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें॥'* (७। १२०)

इस भक्तिसे प्रभु भक्तके वश हो जाते हैं। श्रीनाभास्वामीकृत भक्तमालमें सन्तोंके चरित पाठक स्वयं पढ़-देख लें। अपनी भक्तिके साधन परम कृपालु भक्तवत्सल प्रभुने लक्ष्मणजी तथा श्रीशबरीजीसे भी कहे हैं। देखिये (अरण्यकाण्ड दोहा १५-१६) *'मैं अरु मोर……'* से *'सदा बिश्राम'* तक, और (दोहा ३५-३६) *'प्रथम भगति……'* से *'हिय हरष न दीना'* तक। ऐसी भक्ति पाकर भक्त कैसा सुशोभित होगा, यह तो परमभक्त ही अनुभव कर सकते हैं। ऊपर किञ्चित् टि० १ और नोटमें लिखा गया है। भक्तिहीन पुरुष कैसा अशोभित है, यह *'भगतिहीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥'* (अ० ३५) में बताया गया है। जैसे बिना पानीका मेघ।

टिप्पणी—२ *'नित नूतन मंगल गृह तासू।……'* इति। (क) उपर्युक्त शोभा सारे हिमालय पर्वतपर हो रही है और पर्वतके अभिमानी देवता अथवा राजाके घर नित्य नवीन मङ्गल होते हैं। अर्थात् पार्वतीजीके जन्मके कारण नित्य बधाई, सोहर (छठी, बरही आदि) उत्सव होते रहते हैं। (ख) *'ब्रह्मादिक गावहिं जस जासू'* इति। क्या यश गाते हैं? यह कि हिमराज धन्य हैं कि जिनके घरमें जगत्-मात्रका मङ्गलकल्याण तथा देवताओं और मुनियोंका निस्तार करनेवाली, जगज्जननी पार्वतीजीका जन्म हुआ। लोकमात्रका हित हिमाचलद्वारा हुआ, यह यश हुआ। [हिमाचलको वे वात्सल्यका सुख दे रही हैं। वे दिन-रात उनके बालचरितामृतको पान किया करते हैं। अतः वे धन्य हैं। (मा० प०), इत्यादि] यश हुआ और आगे होगा। यथा—*'एहि ते जसु पैहहिं पितु माता'।* [नये मङ्गलके लिये लोग मङ्गलागौरीका पूजन करते हैं तब जहाँ वे स्वयं अवतीर्ण हुई हैं वहाँ नित्य नया मङ्गल क्यों न हो। (वि० त्रि०)]

नोट—५ '*जासू*' और '*तासू*' का सम्बन्ध रहता है। '*जासू*' का अर्थ प्राय: 'जिसका' होता है। साधारणतया अर्थ यह होता है कि 'जिस-(हिमाचल-) का यश ब्रह्मादि गाते हैं उस-(हिमाचल-) के घर नित्य नवीन मङ्गल होते हैं।' कई टीकाकारोंने '*जासू*' का अर्थ 'उसका' किया है। कुछ अड़चन देखकर सू० प्र० मिश्रजीने '*जासू*' से 'पार्वतीजीका' अर्थ किया है। अर्थात् 'जिन पार्वतीका यश ब्रह्मा आदि गाते हैं उनके जन्मसे हिमालयके घर नित्य नये उत्सव होते हैं।'—पर इसमें शब्द बहुत अपनी ओरसे बढ़ाने पड़ते हैं और जासू-तासूका सम्बन्ध नहीं रहता। सम्भवत: अभिप्राय कविका यह है कि जन्मके समयसे ही ब्रह्मादि हिमाचलका यश गाने लगे, उत्सव-मङ्गल तो जन्मके बादसे हुए। उत्सव होनेपर भी गाते हैं।

नारद समाचार सब पाए। कौतुकहीं* गिरिगेह सिधाए॥ ५॥
सैलराज बड़ आदर कीन्हा। पद पखारि बर† आसनु दीन्हा॥ ६॥

अर्थ—नारदजीने सब समाचार पाये और 'कौतुकही' हिमाचलके घर पधारे॥ ५॥ शैलराजने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया। चरण धोकर उनको (बैठनेके लिये) आसन दिया॥ ६॥

टिप्पणी—१ '*नारद समाचार सब पाए।*......' इति। (क) '*समाचार पाए*' से पाया जाता है कि नारदजी ब्रह्मलोकमें न थे, किसी अन्य लोकमें गये हुए थे। इसीसे उन्हें समाचार बहुत दिनों बाद मिला। जब कन्या सयानी हो गयी तब समाचार मिला। नहीं तो ब्रह्मलोकमें होते तो ब्रह्मादिके यशोगानसे उनको तुरत मालूम हो जाता। (ख) '*समाचार सब*' अर्थात् पार्वतीजन्म, जन्मसम्बन्धी उत्सवों एवं उनके बड़े और तपयोग्य होने आदिका समाचार। (ग) '*कौतुकहीं गिरिगेह सिधाए*' इति। श्रीनारदजी भगवान्‌की इच्छाके रूप हैं। वे सदा भगवान्‌की इच्छाके अनुकूल काम करते हैं। भगवान्‌की इच्छा है कि पार्वतीजी शिव-प्राप्तिके लिये तप करें। इसीसे वे वैसा ही उपदेश करनेके लिये हिमाचलके घर आये। ☞हिमाचलने अपने यहाँ मुनियोंको निवास दिया और फल-फूल-मणि आदिसे सबको सुखी करते हैं। भगवतीका उनके यहाँ अवतार हुआ है। अतएव परम भाग्यवान् और परोपकारी जानकर नारदजी उनके यहाँ गये। परोपकारी, सन्तसेवी भाग्यवानोंके ही यहाँ सन्तोंका आगमन होता है, प्राय: ईश्वरप्राप्ति करानेके लिये ही सन्तोंका आगमन होता है। नारदजी भी ईश्वरप्राप्ति करानेके लिये आये। '*कौतुकहीं*' का भाव यह कि उनको वहाँ-तक आनेमें कुछ भी परिश्रम नहीं हुआ।

नोट—१ 'नारदजीने किससे समाचार पाया?' इसका उल्लेख यहाँ नहीं है। मानस-पत्रिकाका मत है कि 'इसका उत्तर '*ब्रह्मादिक गावहिं जसु जासू*' में आ गया। ये यश गाया करते हैं, उसीसे मालूम हो गया।' प० पु० सृष्टिखण्ड श्रीपार्वती-जन्म-प्रसंगमें पुलस्त्यजीके कथनानुसार नारदजी इन्द्रके भेजे हुए यहाँ आये हैं। वे कहते हैं—'पार्वतीका जन्म होनेपर इन्द्रने नारदका स्मरण किया उनके आनेपर उनकी पूजा कर चुकनेपर जब उन्होंने कुशल-प्रश्न किया तब इन्द्रने कहा—'मुने! त्रिभुवनमें हमारे कुशलका अङ्कुर जम चुका है। अब उसमें फल लगनेका साधन उपस्थित करनेके लिये मैंने आपका स्मरण किया है। ये सारी बातें आप जानते ही हैं फिर भी आपने प्रश्न किया है; इसलिये मैं बता रहा हूँ। विशेषत: अपने सुहृदोंके निकट अपना प्रयोजन बताकर प्रत्येक पुरुष बड़ी शान्तिका अनुभव करता है। अत: जिस प्रकार भी पार्वती देवीका पिनाकधारी भगवान् शङ्करके साथ संयोग हो, उसके लिये हमारे पक्षके सब लोगोंको शीघ्र उद्योग करना चाहिये।' इन्द्रसे उनका सारा कार्य समझ लेनेके बाद नारदजी हिमाचलराजके यहाँ गये।'

नोट—२ '*कौतुकहीं गिरिगेह सिधाए*' इति। सुधाकर द्विवेदीजीका मत है कि 'विलक्षण पार्वतीबाल-लीलाका समाचार पाकर सब काम छोड़ वहाँ पहुँच गये।' **कौतुक**=अपूर्व विषयदर्शनोपभोगोत्साह।

* 'कौतुक हिमगिरिगेह' पाठान्तर। † तब-१७२१, १७६२ छ०। बर-१६६१, १७०४, कोदवराम।

नोट—३ '*कौतुकहीं*'=लीलापूर्वक, जैसे कोई खेल करे।=विनोदार्थ। नारदजीके सम्बन्धमें यह शब्द ग्रन्थकारने अन्यत्र भी प्रयुक्त किया है। यथा—'*मुनि कौतुकी नगर तेहि गएऊ।*' (बा० १३०) उनके लिये यह एक खेल वा विनोद ही है। जी बहलानेके लिये सोचे कि चलो हम भी देख आवें और किसी प्रयोजनसे नहीं। '**सिधाए**'=चल दिये। '*कौतुकहीं*' के साथ यह शब्द बड़े मार्केका है। कौतुकप्रिय हैं, अतः चल दिये। बैजनाथजी '*कौतुकहीं*' का अर्थ 'स्वाभाविक ही' करते हैं। पं० रामकुमारजीने जो अर्थ किया है वह भी ग्रन्थसे प्रमाणित है। '*कौतुकहीं*'=सहज ही बिना श्रम; यथा—'*सिंधु तीर एक भूधर सुंदर। कौतुक कूदि चढ़ेउ ता ऊपर॥*' (सुं० १)

☞'पार्वतीमङ्गल' ग्रन्थमें जन्मादिका वर्णन यों है—'*मंगलखानि भवानि प्रगट जब तें भइ। तब ते रिधिसिधि संपति गिरिगृह नित नइ॥ नित नव सकल कल्यान मंगल मोदमय मुनि मानहीं। ब्रह्मादि सुर-नरनाग अति अनुराग भाग बखानहीं॥ पितु-मातु प्रिय परिवारु हरषहिं निरखि पालहिं लालहीं॥ सित पाख बाढ़ति चंद्रिका जनु चंदभूषन भालहीं॥ कुअँरि सयानि बिलोकि मातु-पितु सोचहिं। गिरिजा जोगु जुरिहि बरु अनुदिन लोचहिं॥ एक समय हिमवान भवन नारद गए। गिरिबरु मैना मुदित मुनिहि पूजत भए॥*' (४—६) इससे अनुमान होता है कि विवाहयोग्य होनेपर माता-पिताकी चिन्ता मिटानेके लिये नारदजी भगवत्-प्रेरणासे आये। जैसे श्रीरामजीके विवाहकी चिन्ता दशरथ महाराजको जब हुई तब विश्वामित्रजी भगवत्-प्रेरणासे अयोध्या आये थे।

हरि-इच्छाहीसे इन्द्रको नारदके स्मरणकी बात भी सूझी और विनोदार्थ भी आये हों तो वह भी हरि-इच्छासे हो सकता है। केवल भेद इतना होगा कि विनोदार्थ आये तो तपके लिये भेजना है—यह उनको ज्ञात नहीं है। बिना जाने हरि-इच्छासे वैसा उपदेशका प्रसङ्ग आ गया।

'*नारद*'—इनके पूर्व जन्मकी कथा '*बालमीक नारद घटजोनी।*' (३। ३) में दी गयी है। ये ब्रह्माजीके मानसपुत्रोंमेंसे हैं। सृष्टिरचनाके लिये ब्रह्माने मानसपुत्र उत्पन्न किये थे। इन्होंने प्रजासृष्टिकी रचना स्वीकार न किया और अन्य मानसपुत्रोंको भी बहकाया जिससे वे भी विरक्त हो गये। शब्दसागरमें लिखा है कि इस प्रकार सृष्टिरचनामें बाधा करनेके कारण ब्रह्माजीने इनको शाप दिया कि तुम कभी स्थिर होकर एक स्थानपर न रह सकोगे, सदा विचरते ही रहोगे। परन्तु भागवतमें दक्षका इनको ऐसा शाप देना कहा है। यथा—'**तस्माल्लोकेषु ते मूढ न भवेद्भ्रमतः पदम्॥**' (६। ५। ४३) अर्थात् इसलिये हे मूढ़! लोकोंमें विचरते हुए तेरे ठहरनेका कोई निश्चित स्थान न होगा। (बा० ७९। १-२) में देखिये। इसी कारण ये त्रैलोक्यमें विचरते ही रहते हैं। ये देवर्षि हैं; इससे कहीं कोई परदा नहीं करता और न कहीं इनको रोक-टोक हो।—'*त्रिकालज्ञ सर्बज्ञ तुम्ह गति सर्बत्र तुम्हारि।*' (बा० ६६) '*नारद को न परदा न नारद सों पारिषो।*' (क० बा० १६) सदैव हाथमें वीणा लिये हुए भगवद्यशका गान उसे बजा-बजाकर करते हैं। भगवान्‌के द्वादश प्रधान भक्तोंमें आप भी हैं (देखिये भक्तमाल छप्पय ७)। इनके जीमें यही रहती है कि औरोंको भी हरिभक्त बनावें, संसारसे विरक्त करा दें। आपका स्वभाव संतोंका-सा दयामय है। आप एक लोकका समाचार दूसरे लोकको दिया करते हैं। स्वभाव आपका कलहप्रिय कहा गया है। जहाँ-तहाँ देवता-दैत्योंमें लड़ाई-झगड़ेकी जड़ आप ही देखे गये हैं। आप भगवान्‌के मन कहे जाते हैं। सेवा, पूजा, कीर्तन, प्रसाद, भक्तिप्रचारक इत्यादि सभी निष्ठाओंमें प्रधान हैं।

टिप्पणी—२ '*सैलराज बड़ आदर कीन्हा।*……' इति। (क) 'शैलराज' ने आदर किया, इस कथनका भाव यह है कि राजालोग महात्माओंका जैसा आदर करते हैं वैसा आदर-सत्कार किया। पुनः भाव कि महात्माओंका आदर करनेसे मनुष्योंको बड़ाई प्राप्त होती है। यहाँ नारदजीका आदर करनेसे उनको 'शैलराज' कहा गया। (ख) '*बड़ आदर*' —आगेसे चलकर मिलना, दण्डवत्-प्रणाम करना, अगवानी करके लाना, सामने सेवामें खड़े रहना, चरण-प्रक्षालन करना, आसन देना, पूजन करना इत्यादि बड़ा आदर है। यथा '*मुनि आगमन सुना जब राजा। मिलन गएउ लै बिप्र समाजा॥ करि दंडवत मुनिहि*

सनमानी। निज आसन्ह बैठारेन्हि आनी॥ चरन पखारि कीन्हि अतिपूजा। मोसम आजु धन्य नहिं दूजा॥ बिबिध भाँति भोजन करवावा।' (बा० २०७)। (ग) पूर्वार्धमें *'बड़ आदर कीन्हा'* कहकर उत्तरार्धमें यह भी बताया कि क्या आदर किया। स्वागत करके चरण-प्रक्षालन करना, आसन देना यही आदर है। प्राय: परातमें चरण धोनेकी रीति शिष्ट लोगोंमें देखी-सुनी जाती है, जिसमें जल बाहर न गिरे। पैर परातमें रखकर आदरपूर्वक धोये जाते हैं, फिर अँगोछेसे पोंछे जाते हैं। तत्पश्चात् सुन्दर आसनपर बिठाया जाता है। यथा—*'सादर जल लै चरन पखारे। पुनि सुंदर आसन बैठारे॥'* (अ० ३४) (श्रीशबरीजी) *'सादर चरन सरोज पखारे। अति पुनीत आसन बैठारे॥'* (बा० ४५) (श्रीभरद्वाजजी) तथा यहाँ *'सैलराज'''''।'*

नारि सहित मुनिपद सिरु नावा। चरनसलिल सबु* भवन सिंचावा॥ ७॥

निज सौभाग्य बहुत गिरि† बरना। सुता बोलि मेली मुनि चरना॥ ८॥

अर्थ—(फिर उन्होंने) स्त्रीसहित मुनिके चरणोंमें सिर नवाया (अर्थात् प्रणाम किया) चरणोदकसे सारे घरको सिंचवाया (अर्थात् चरणधोवन सारे घरमें छिड़कवाया)॥ ७॥ हिमाचलने अपने सौभाग्य-(सुन्दर भाग्य-) की बहुत बड़ाई की और बेटीको बुलाकर सुता कहकर मुनिके चरणोंपर डाल दिया॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'नारि सहित मुनिपद सिरु नावा।'''''* इति। (क) इससे शैलराजकी अत्यन्त भक्ति सूचित की। यथा *'गहे चरन सिय सहित बहोरी। बोले राम कमल कर जोरी॥'* (अ० ९) (ख) *'चरन सलिल सबु भवनु सिंचावा।'* ☞ चरणोदकसे घर सिंचवाया, क्योंकि महात्माओंके चरणकमलमें अनेक तीर्थोंका निवास रहता है। चरणोदक सर्वतीर्थोंके समान है। उसके सिंचनसे घर पवित्र होता है, वंशकी वृद्धि होती है, दारिद्र्य और अनेक अनिष्ट दूर होते हैं। पदतीर्थ-सेवनसे अन्त:करण शुद्ध होता है। यहाँ गृहस्थोंका धर्म दिखाया है कि उनको अपने कल्याणार्थ ऐसा करना चाहिये।

टिप्पणी—२ *'निज सौभाग्य बहुत गिरि बरना'* इति। [अर्थात् कहा कि—'**महान् भाग्योदय:**' आपके आगमनसे, आपके दर्शनसे हमारा भाग्य उदय हुआ। आज हमारे कोई बड़े पुण्यसमूहोंका, पूर्वसुकृतोंका उदय हुआ कि आपके दर्शन घर बैठे हुए; क्योंकि *'पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता।'* (उ० ४५) भगवान्‌की आज हमारे ऊपर बड़ी असीम कृपा हुई कि आपने स्वयं आकर दर्शन दिये; यथा— *'जौं रघुबीर अनुग्रह कीन्हा। तौ तुम्ह मोहि दरसु हठि दीन्हा॥'* (सुं० ७) *'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।'* आज हमारा घर और हम पवित्र और कृतार्थ हो गये, हमारे भाग्यकी बड़ाई कौन कह सकता है। इत्यादि, सौभाग्यका वर्णन है। यथा—*'सेवक सदन स्वामि आगमनू। मंगलमूल अमंगल दमनू॥ प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू। भयउ पुनीत आजु यहु गेहू॥'* (अ० ९) महात्माके दर्शनसे भाग्यकी बड़ाई है (बड़ा सौभाग्य समझा जाता है); यथा—*'नाथ कुसल पदपंकज देखें। भयउँ भागभाजन जन लेखें॥'* (अ० ८८) निषाद, *'अहो भाग्य मम अमित अति राम कृपा सुख पुंज। देखेउँ नयन बिरंचि सिव सेब्य जुगल पद कंज॥'* (सुं० ४७) विभीषण।—[किसीने कहा है *'धन्य वाके भाग जाके साधु आए पाहुने।'* चाणक्यनीतिमें लिखा है कि—'**न विप्रपादोदककर्दमानि न वेदशास्त्रध्वनिगर्जितानि। स्वाहास्वधाकारविवर्जितानि श्मशानतुल्यानि गृहाणि तानि॥**' अर्थात् जिन घरोंमें विप्रचरणोदकसे कीचड़ न हुआ हो, वेदशास्त्रध्वनि न हुई हो और जो घर स्वाहा-स्वधासे रहित हों, वे घर श्मशानतुल्य हैं। (वि० टी०)]

टिप्पणी—३ *'सुता बोलि मेली मुनि चरना'* इति। (क) (**मेलना**=डाल देना, यथा—*'सिय जयमाल राम उर मेली।'* (बा० २६४) *'मेली कंठ सुमन कै माला।'* (कि० ८) यह शब्द केवल पद्यमें प्रयुक्त होता है और इसका प्रयोग प्रान्तिक है।) **मेली**=प्रणाम कराया। यथा—*'पद सरोज मेले दोउ भाई।'* (बा० २६९) *'मेली'* शब्द देकर पार्वतीजीकी मुग्धावस्था दिखायी है अर्थात् यह सूचित किया है कि वे अभी बहुत छोटी हैं। आगे चौपाईसे मालूम होता है कि वे सखीकी गोदमें थीं, यथा—*'जानि कुअवसर प्रीति दुराई। सखी*

* तब—१७२१। बिधि—१७२१, १७६२, छ०, १७०४। † गिरि—१६६१, कोदवराम।

उछंग बैठी पुनि जाई॥' (६८) छोटी होनेके कारण पिताने प्रणाम कराया, जैसे महाराज दशरथने चारों पुत्रोंको विश्वामित्रजीके चरणोंमें प्रणाम कराया था। यथा—*'पुनि चरनन्हि मेले सुत चारी। राम देखि मुनि देह बिसारी॥'* (बा० २०) और विश्वामित्रने परशुरामके चरणोंमें प्रणाम कराया था, यथा—*'बिस्वामित्र मिले पुनि आई। पद सरोज मेले दोउ भाई॥'* (२६९) (ख) चरणोंमें प्रणाम, चरणोंका प्रक्षालन, चरणप्राप्तिसे अपने सौभाग्यकी प्रशंसा करनी, सुताको प्रणाम कराना—इत्यादिसे सूचित किया कि हिमाचल विप्रचरणकमलोंमें अत्यन्त प्रेम रखते हैं; यथा—*'बिप्र चरन पंकज अति प्रेमा।'*

पं० सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि—'**सर्वस्याभ्यागतो गुरुः**' * (अर्थात् अभ्यागत सबका गुरु है), इस मनुवाक्यसे और नारदको सबसे प्रधान देवर्षि समझकर, सज्जनके लिये मनुजीने जैसा कर्तव्य बताया है, शैलराजने उसी प्रकार गुरुके समान उनका आदर-सत्कार किया। मनुजीने लिखा है कि '**तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता। एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥**' तृणानि (कुशासन) अथवा भूमि (आसन), जल और उत्तम वाणी—इन चार बातोंका अभाव सज्जनोंके यहाँ नहीं होता।—इस नियमसे पहले दूरसे देखकर, खड़े होकर, आगे जाकर, दण्डवत् कर साथ-साथ ले जाना यह *'बड़ आदर कीन्हा'* से हुआ। *'पद पखारि'* से अर्घ्य किया। *'बर आसन दीन्हा'* से 'तृणानि' और 'भूमि', *'नारि सहित मुनिपद सिरु नावा। चरन सलिल सब भवन सिंचावा॥'* से विशेष सत्कारके साथ उनके चरणोदकसे घर सिंचवाना इससे 'उदक' और *'निज सौभाग्य बहुत गिरि बरना।'* से 'सूनृत वाणी'—ये चारों मनुकी आज्ञाएँ पालन की गयीं।'

दोहा—त्रिकालग्य सर्बग्य तुम्ह गति सर्बत्र तुम्हारि।
कहहु सुताके दोष गुन मुनिबर हृदय बिचारि॥६६॥

अर्थ—(हिमाचलराज बोले) हे मुनिश्रेष्ठ! आप त्रिकालज्ञ और सर्वज्ञ हैं, सर्वत्र आपकी पहुँच है। (अतएव कृपा करके) हृदयमें विचारकर (इस) लड़कीके दोष और गुण कहिये॥६६॥

टिप्पणी—१ *'त्रिकालग्य', 'सर्बग्य', 'गति सर्बत्र तुम्हारि'*—ये तीनों विशेषण सहेतुक हैं। (क) आप त्रिकालज्ञ हैं अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंके ज्ञाता हैं। अतः इसका भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कहिये। मुनिने आगे तीनों कालकी बातें कही भी हैं—*'सुता तुम्हारि सकल गुन खानी। सुंदर सहज सुसील सयानी॥ नाम उमा अंबिका भवानी। सब लच्छन संपन्न कुमारी॥'*—यह वर्तमान है।*'होइहि संतत पिअहि पिआरी'* से *'जोगी जटिल अकाम मन……।'* (६७) तक भविष्य है। भूतकालका हाल इस समय नहीं कहा। क्योंकि उसमें ऐश्वर्य है। उसके कहनेसे ऐश्वर्य प्रकट हो जायगा, जिससे फिर माता-पिताको वात्सल्यका सुख न मिल सकेगा। ऐश्वर्य प्रकट करनेका समय विवाहके अवसरपर आवेगा तब कहेंगे, यथा—*'पूरुब कथा प्रसंगु सुनावा। ……जनमीं प्रथम दच्छगृह जाई॥'* से *'हर बिरह जाइ बहोरि पितुके जग्य जोगानल जरीं।'* (९८) तक यह भूत है। (ख) *'सर्बग्य'* अर्थात् आप सर्वशास्त्रोंके ज्ञाता हैं। (अतः ज्योतिष, सामुद्रिक शास्त्रद्वारा हाथ देखकर इसके गुण-दोष कहिये।) इसीसे आगे हस्तरेखाएँ देखकर सामुद्रिक कहेंगे। यथा—*'अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि परी हस्त असि रेख।'* (६७) [योगीलोग प्रज्ञालोकके प्रभावसे वस्तुविशेषका भूत, भविष्य जान लेते हैं, इस भाँति त्रिकालज्ञ होते हुए भी सर्वज्ञ नहीं होते। नारदजी त्रिकालज्ञ भी हैं और सर्वज्ञ भी। (वि० त्रि०)] (ग) *'गति सर्बत्र तुम्हारि'* से जनाया कि आप समस्त लोकोंके भी ज्ञाता हैं। (आप सर्वत्र विचरते हैं। अतः बताइये कि इसके योग्य वर कहाँ है।) यह भी आगे देवर्षिजी बतायेंगे। यथा—*'जद्यपि बर अनेक जग माहीं। एहि कहँ सिव तजि दूसर नाहीं॥'* (७०) [और पार्वतीमंगलसे स्पष्ट है कि माता-पिता वरके लिये चिन्तित थे और उन्होंने नारदसे स्पष्ट पूछा है। यथा—*'कुअँरि सयानि बिलोकि मातु पितु सोचहिं। गिरिजाजोग जुरिहि बरु*

---

* पूरा श्लोक यह है—'गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः। पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः॥' अर्थात् अग्नि ब्राह्मणोंका, ब्राह्मण सब वर्णोंका और पति स्त्रियोंका गुरु है।. अभ्यागत सबका गुरु है।

अनुदिन लोचहिं॥ ६॥''''''तुम्ह तिभुवन तिहुँ काल बिचार बिसारद। पारबती अनुरूप कहिय बरु नारद॥' (८)]
(घ) त्रिकालज्ञ, सर्वज्ञ और सर्वत्र गति होनेसे *'मुनिबर'* कहा।

श्रीसुधाकर द्विवेदीजी—'मुनि सिद्ध भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंका वृत्तान्त जानते हैं, सबके जाननेवाले और सब जगह जानेवाले होते हैं। इसलिये सब विशेषण उचित दिये गये हैं। तीन जन्मका फल कहनेके लिये *'त्रिकालज्ञ'* कैसा वर मिलेगा इसके लिये *'सर्वज्ञ'* और वह वर कहाँ मिलेगा इसके लिये *'गति सर्वत्र'* कहा। वाक्-छलसे हिमालयके मुखसे सरस्वतीने यह भी कह दिया कि तुम *'सर्वज्ञ'* (शर्वज्ञ) याने शर्व-(महादेव-) को जाननेवाले हो। *'मुनिबर'* में *'मुनि'* को अलगकर सम्बोधन बनाओ तो—*'हे मुनि! बर हृदय बिचारि'* हृदयमें वरको विचारकर याने किसके साथ इसका ब्याह होगा यह हृदयमें विचारकर तब कन्याका गुण-दोष कहो। हाथको संस्कृतमें *'दोष'* कहते हैं। इसलिये *'कहहु सुताके दोष गुन'* अर्थात् कन्याके 'हाथों' को गुनकर याने देखकर तब हृदयमें विचारकर *'बर'* (इसका पति) कहो। इससे यह भी जनाया कि जन्मपत्र नहीं है।'

नोट—१ यह तुलसीकाव्यकी महिमा है कि चाहे जैसा भारी विद्वान् हो वह भी इसके शब्दोंमें गूढ़ भाव निकाल-निकालकर इसमें आनन्द प्राप्त करता है।

नोट—२ *'कहहु सुता के दोष गुन'* में दोषको प्रथम कहा है और नारदमोहप्रकरणमें विश्वमोहिनीके विषयमें *'कहहु नाथ गुन दोष सब एहिके हृदय बिचारि।'* (१३०) ऐसा कहा है अर्थात् गुणको प्रथम कहा है। इसमें क्या भेद और भाव है यह (दोहा १३०) में लिखा जायगा। पाठक वहाँ देख लें।

वि० त्रि० जी लिखते हैं कि केवल गुण और केवल दोषकी जगत्‌में स्थिति भी नहीं है। इसलिये दोष-गुण दोनों पूछते हैं। दोष लक्षित नहीं होता है, अतः जिज्ञासामें प्रधानता दोषको है, इसलिये दोषको ही पहिले कहा।

कह मुनि बिहसि गूढ़ मृदु बानी। सुता तुम्हारि सकल गुन खानी॥ १॥
सुंदर सहज सुसील सयानी। नाम उमा अंबिका भवानी॥ २॥

अर्थ—मुनिने हँसकर गूढ़ और कोमल वचन कहे। तुम्हारी बेटी समस्त गुणोंकी खान है॥ १॥ स्वाभाविक ही सुन्दरी, सुशील और सयानी है। उमा, अम्बिका और भवानी (इसके) नाम हैं॥ २॥

नोट—१ *'कह मुनि बिहसि'* इति। हँसनेके कारण महानुभावोंने ये लिखे हैं—(क) हिमाचल भवानीको अपनी कन्या जानकर दोष और गुण पूछते हैं। यह नहीं जानते कि यह जगदम्बा है, इनमें दोष कहाँ? (रा० प्र०) (ख) जैसे किसीके पास रत्न हो जो उसकी कदर या प्रभाव न जानता हो, यदि वह जौहरीके पास उसे ले जाय तो जौहरी देखकर प्रसन्न होता है (क्योंकि वह उसका गुण जानता है) और जीमें यह विचारकर हँसता है कि यह बेचारा इसके गुण क्या जाने, ठीक उसी प्रकारकी यहाँ नारदजीकी हँसी है। (पं०) अथवा (ग) यह सोचकर हँसे कि गुण सुनकर हर्ष होगा, पर जब वरका स्वरूप सुनेंगे तब दुःखित होंगे। (पं०) (घ) आज यह विलक्षण लीला है कि जगज्जननीके हाथको मैं देख रहा हूँ और वह चुपचाप बालिका बनी दिखला रही हैं—ऐसा विचारकर हँसे। (सु० द्वि०) (ङ) ये *'भव भव बिभव पराभव कारिनि। बिस्व बिमोहिनि स्वबस बिहारिनि॥'* हैं, सो आज मैं उनकी हस्तरेखा देखकर शुभ और अशुभ फल कहने बैठा हूँ। (मा० प०) (च) नारदजी कौतुकप्रिय हैं ही। यह सोचकर हँसे कि अभी तो ये प्रसन्न होंगे, आगे फिर हमें इनकी रानी गाली देंगी, यह तमाशा देखनेको मिलेगा। (छ) यह जगत्‌का नियम है कि जब किसीकी गयी हुई वस्तुको वह पुनः देखता है, तब उसे देखकर वह प्रसन्न होता है। नारदजीने सतीको यज्ञमें शरीर-त्याग करते समय देखा था, अब उनको पार्वतीरूपमें देखकर हँसे। (सू० प्र० मिश्र) (ज) समग्र लक्षण देखते ही पूर्वापर समग्र हाल जान गये, अतः हँसे। (वै०) (झ) दंपतिके वात्सल्यपर हँसे। (वि० त्रि०)

टिप्पणी—१ *'कह मुनि बिहसि गूढ़ मृदु बानी।……'* इति। (क) *'मुनि'* अर्थात् मननशील हैं, मनन करके तब कहा। ऐश्वर्य प्रकट करनेका अवसर यह नहीं है, इसीसे *'गूढ़'* अर्थात् गुप्त करके कहते हैं। वचनोंमें ऐश्वर्य गुप्त है, यही वाणीकी गूढ़ता है। हिमाचलको इन वचनोंके गूढ़ भावोंका कुछ भी ज्ञान न हुआ। अतएव *'गूढ़'* विशेषण खूब ही घटित हुआ। [(ख) सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'कैसे कहें?' एक तो देवर्षि, दूसरे जगज्जननी सामने खड़ी। झूठ कैसे कहूँ और जो प्रत्यक्षमें सब भेद खोल दूँ तो जगत्पिता महादेव और जगज्जननी उमा दोनोंकी इच्छासे उलटा करनेका अपराधी ठहरूँगा। इसलिये गूढ़ वाणी बोले, जिसमें शैलराज और उसकी स्त्री तथा सखियाँ ठीक-ठीक अर्थ न समझें। ज्योतिषी लोग प्रसन्न करनेके लिये सुलक्षण ही पहले कहते हैं; इसलिये मुनिने *'सकल गुन खानी'* प्रत्यक्षमें कहा। उसमें गूढ़ार्थ यह है कि सत्त्व, रज और तम तीनों गुणोंकी 'खानि' अर्थात् प्रकृतिरूपा आद्याशक्ति हैं।] (ग) *'सकल गुन'* से चौदहों गुणोंका भी होना कह दिया। वे ये हैं—देशकालका ज्ञान, दृढ़ता, कष्टसहिष्णुता, सर्वविज्ञानता, दक्षता, उत्साह, मन्त्रगुप्ति, एकवाक्यता, शूरता, भक्ति, ज्ञान, कृतज्ञता, शरणागत-वत्सलता, अमर्षित्व और अचापलत्व।

टिप्पणी—२ (क) *'सुंदर सहज सुसील सयानी……'* इति। *'सकल गुन खानी'* यह गूढ़ वाणी कहकर अब कुछ प्रकट गुण कहते हैं। सहज सुन्दरी है, अर्थात् बिना शृङ्गारके ही सुन्दर है। *'सहज'* का अन्वय सबके साथ है। सहज सुशील है अर्थात् जन्मस्वभावसे ही सुशील है, कुछ पढ़ने-लिखने या दूसरोंको देखकर नहीं। और न पण्डितोंकी सेवासे यह सुशीलता प्राप्त हुई है, यथा—*'सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई।'* (७। ९०) *'सहज सयानी'* है, अर्थात् बिना पढ़े-लिखे ही इसकी बुद्धि सयानोंकी-सी है। तीन विशेषणोंसे तीन बातें कहीं—शरीरसे सुन्दर है, स्वभावसे सुशील है और बुद्धिसे सयानी है। (ख) *'नाम उमा अंबिका भवानी'* इति। इससे पाया गया कि नामकरण देवर्षि नारदद्वारा हुआ। हिमाचलने बेटीका कोई नाम नहीं लिया; *'कहहु सुताके दोष गुन'* इतना ही कहकर सुताके दोष-गुण पूछे थे। [वाक्यमें गूढ़ता यह है कि स्वयं नाम बतलाने लगे। इतनी बड़ी कन्याका नाम माता-पितासे पूछना चाहिये; न कि माता-पिताको उसका नाम बतलाना चाहिये (वि० त्रि०)]

नोट—२ तीन नाम देकर भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालोंके नाम बताये। यहाँ त्रिकालज्ञता चरितार्थ की। 'अंबिका' अर्थात् जगज्जननी हैं—यह भूतमें, 'उमा' वर्तमानकालमें नाम है और 'भवानी' नाम भविष्यमें होगा। (वै०, सू० प्र० मिश्र)।

सब लच्छन संपन्न कुमारी। होइहि संतत पिअहि पिआरी॥ ३॥
सदा अचल एहि कर अहिवाता। एहि तें जसु पैहहिं पितु माता॥ ४॥

अर्थ—कन्या सब सुलक्षणोंसे युक्त है। (यह अपने) पतिको सदा प्यारी होगी॥ ३॥ इसका सुहाग सदा अचल रहेगा। माता-पिता इससे यश पावेंगे॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'सब लच्छन संपन्न कुमारी।……'* इति। दो चरणोंमें गुण कहकर अब लक्षण कहते हैं। सब लक्षण वही हैं जो आगे कहते हैं। *'होइहि संतत पिअहि पिआरी'* निरन्तर प्रिय होगी—इसका कारण पूर्व कह आये कि सर्वगुणखानि हैं और सर्वलक्षणसम्पन्न हैं। अतः पतिव्रता होगी। पतिव्रता होनेसे पतिको सदा प्रिय होगी। [जो लक्षण पतिव्रतामें होने चाहिये, वे सब इसमें हैं। सामुद्रिकमें बत्तीस लक्षण कहे गये हैं, उन सबोंसे युक्त जनाया। *'कुमारी'* शब्दसे जनाया कि 'कुमारावस्थामें चञ्चलता आदि दुर्गुण होते हैं, उन सबोंसे रहित सब लक्षणसम्पन्न रहेगी।' *'होइहि संतत……'* से विवाह होनेपर पतिप्रिय और अनुकूल जनाया।' (मा० प०)]

टिप्पणी—२ *'सदा अचल एहि कर अहिवाता।……'* इति। (क) इससे जनाया कि ये ईश्वरकी शक्ति हैं। न ईश्वरका कभी नाश, न इस सुताका नाश। स्त्रीके लिये मुख्य लक्षण यही है कि उसका सौभाग्य सदा बना रहे और वह सदा पतिको प्रिय रहे। (ख) *'एहि तें जसु पैहहिं पितु माता'*—यह पूर्वसे चरितार्थ होता आ रहा है; यथा—*'नित नूतन मंगल गृह तासू। ब्रह्मादिक गावहिं जसु जासू॥'*—यह तो भूत और

वर्तमानका यश हुआ और आगे भविष्यमें भी यश होगा। [लोग कहेंगे कि शैलराज और मयनाजी धन्य हैं कि जगज्जननी भवानीके माता-पिता हुए; यथा—'*जिन्हहिं बिरचि बड़ भयउ बिधाता। महिमा अवधि राम पितु माता॥*' इनके द्वारा जगत्‌का उपकार होगा। षण्मुख कार्तिकेयजी इनके पुत्र हुए, जिन्होंने तारकासुरका वध किया। पितासे संतानका नाम होता है पर यहाँ संतानसे पिता-माताका नाम होगा—यह माता-पिताका सौभाग्य है; यथा—'*तुम्हतें पुन्यपुंज बड़ काकें। राजन राम सरिस सुत जाकें॥*'—यही यश है। '*एहि तें*' में यह भी ध्वनि है कि तुम्हारे पुत्र मैनाकसे तुम्हें यश नहीं मिला।]

नोट—'*जसु पैहहिं पितु माता*' इति। यथा—'*कहहु सुकृत केहि भाँति सराहिय तिन्ह कर। लीन्ह जाइ जगजननि जनमु जिन्हके घर॥*''''''४॥ *मुनि कह चौदह भुवन फिरउँ जग जहँ जहँ। गिरिबर सुनिय सरहना राउरि तहँ तहँ॥ भूरि भाग तुम्ह सरिस कतहुँ कोउ नाहिन। कछु न अगम सब सुगम भयो बिधि दाहिन॥ ९॥ दाहिन भए बिधि सुगम सब सुनि तजहु चित चिंता नई। बरु प्रथम बिरचि बिरंचि बिरची मंगला मंगलमई॥ बिधि लोक चरचा चलति राउरि चतुर चतुरानन कही। हिमवानु कन्या जोग बरु बाउर बिबुध बंदित सही॥ १०॥*'—(पार्वतीमंगल)

होइहि पूज्य सकल जग माहीं। एहि सेवत कछु दुर्लभ नाहीं॥ ५॥
एहि कर नामु सुमिरि संसारा। त्रिय चढ़िहहिं पतिब्रत असि धारा॥ ६॥
सैल सुलच्छन सुता तुम्हारी। सुनहु जे अब अवगुन दुइ चारी॥ ७॥

अर्थ—(यह) सारे जगत्‌में पूज्य होगी। इसकी (पूजा) सेवा करनेसे कुछ भी (पदार्थ) दुर्लभ न होगा॥ ५॥ संसारमें स्त्रियाँ इसका नाम सुमिरकर, पातिव्रत्यरूपी तलवारकी धारपर चढ़ जायँगी॥ ६॥ हे शैलराज! तुम्हारी बेटी सुलच्छना है। जो दो-चार अवगुण हैं, वह भी अब सुन लो॥ ७॥

टिप्पणी—१ '*होइहि पूज्य सकल जग माहीं।*''''''' इति। (क) दोनों कुलोंकी कहकर अब जगत्‌में पूज्य होना कहते हैं। '*सकल जगमें*' अर्थात् तीनों लोकोंमें। (ख) '*एहि सेवत कछु दुर्लभ नाहीं*' इति। पूज्य कहकर अब उनकी पूजाका फल कहते हैं कि सभी मनोरथ सिद्ध होंगे, लोक-परलोक दोनों बन जायँगे। '*कछु दुर्लभ नाहीं*' अर्थात् दुर्लभ भी सुलभ हो जायगा। यथा—'*सेवत तोहि सुलभ फल चारी। बरदायनी पुरारि पिआरी॥ देवि पूजि पद कमल तुम्हारे। सुर नर मुनि सब होहिं सुखारे॥*' (बा० २३६)

टिप्पणी—२ '*एहि कर नामु सुमिरि संसारा।*''''''' इति। सेवा-पूजाका फल कहकर अब नामका फल कहते हैं। नाम पूर्व कह आये—उमा, अम्बिका, भवानी। पातिव्रत्य खड्गधारके समान कठिन है, उसपर स्त्रियाँ इसके नामका स्मरण करके सुखसे चढ़ेंगी। अर्थात् यह ऐसी पतिव्रता होगी कि इसका नाम स्मरण करनेसे संसारभरकी स्त्रियाँ पतिव्रता हो जायँगी। तात्पर्य कि यह पतिव्रताशिरोमणि होगी। यथा—'*पतिदेवता सुतीय महँ मातु प्रथम तव रेख॥*' (२३५) पूर्व '*होइहि संतत पिअहि पिआरी*' से इसपर पतिका प्रेम और '*एहि कर नामु सुमिरि*''''' से इसका प्रेम पतिपर कहा। इस तरह पति-पत्नीकी अन्योन्य प्रीति कही। [खड्गकी पैनी धारपर पैर धरते ही पैर कट जायगा, यथा—'*परत खगेस होइ नहिं बारा॥*' (७। ११९) पातिव्रत्य खड्गकी पैनी धारके तुल्य है। ऐसे कठिन धर्मपर भी स्त्रियाँ इसके नामका स्मरण करते हुए आरूढ़ हो सकेंगी, अर्थात् नामके प्रभावसे पातिव्रत्य सर्वथा निबह जायगा। '*चढ़िहहिं*' अर्थात् जहाँ कोई दूसरा पैर नहीं रख सकता, वहाँ इसके नामके बलसे स्त्रियाँ चढ़कर खड़ी रहेंगी। अर्थात् पातिव्रत्य सुगम हो जायगा।]

टिप्पणी—३ '*सैल सुलच्छन सुता तुम्हारी।*''''''' इति। (क) '*सुंदर सहज सुसील सयानी। नाम उमा अंबिका भवानी॥*' कहकर '*सब लच्छन संपन्न कुमारी*' कहा। और '*होइहि संतत पिअहि पिआरी।*' से '*त्रिय चढ़िहहिं*''''''' तक कहकर '*सैल सुलच्छन सुता तुम्हारी*' कहा। इससे पाया गया कि '*सुंदर*

सहज सुसील......' 'लक्षण' हैं और पति-प्रिय होना, सौभाग्यका अचल रहना तथा पतिव्रता होना 'सुलक्षण' हैं। (ख) *'सब लच्छन संपन्न कुमारी'* से *'सैल सुलच्छन सुता......'* तक लक्षण कहे। अर्थात् *'सब लच्छन......'* उपक्रम है और *'सैल सुलच्छन......'* उपसंहार है। (ग) *'सुनहु जे अब अवगुन दुइ चारी।'* इति। *'दुइ चारी'* का भाव कि यह गुणोंकी तो खानि है, अवगुण दो-चार ही हैं अर्थात् बहुत कम हैं (घ) नारदजी पार्वतीजीके लक्षणोंसे प्रसन्न होकर ऐसे मुग्ध हो गये कि बारम्बार प्रशंसा कर रहे हैं—१-*'सुता तुम्हारि सकल गुनखानी'* २-*'सब लच्छन संपन्न......'* ३-*'सैल सुलच्छन सुता तुम्हारी।'* (ङ) हिमाचलने प्रथम उमाके दोष पूछे, यथा—*'कहहु सुताके दोष गुन......।'* नारदजीने प्रथम गुण कहे, सबके पीछे दोष कहे। इसमें भाव यह है कि दोष यदि प्रथम कहते तो माता-पिता विकल हो जाते, गुण सुननेका उन्हें होश भी न रहता, इस विचारसे प्रथम गुण कहे। (अच्छी बात पहले कही ही जाती है।)

नोट—१ *'सकल गुन खानी'* और *'सुलच्छन'* कहकर फिर दोष बताना यह भी गूढ़ता है। निर्दोष तो ईश्वर छोड़ दूसरा होता ही नहीं। इसलिये यदि दोष न कहते तो इसका ऐश्वर्य प्रकट हो जाता। यह विचारकर *'अवगुन'* शब्द कहा, यद्यपि वे अवगुण हैं नहीं।

नोट—२ आगे जो अवगुण कहते हैं वे तो सुताके दोष नहीं हैं वरञ्च वरके दोष हैं, जैसा कि नारदजी आगे स्वयं कहते हैं, यथा—*'जे जे बरके दोष बखाने।'* (६९।३) इस कारण टीकाकारोंने *'सैल सुलच्छन सुता तुम्हारी। सुनहु जे अब अवगुन दुइ चारी॥'* के भिन्न-भिन्न भाव कहे हैं—

(क) 'पति-पत्नीमें अभेद मानकर, उनको एक जानकर पतिके अवगुण पार्वतीजीमें आरोपण करके कहे। वह निन्दा वस्तुतः प्रशंसा है।' (रा० प्र०)

(ख) *'सुता तुम्हारी'* का भाव यह है कि जबतक यह कुँआरी है, तुम्हारी सुता कहलाती है अर्थात् एक तनचारी है तबतक तो इसमें सब सुलक्षण-ही-सुलक्षण हैं, एक भी कुलक्षण (दोष) नहीं है। हाँ! जब इसका विवाह हो जायगा तब पति-सम्बन्धसे ये अवगुण होंगे। पतिमें जो अवगुण हैं सो सुनो।' (वै०)

(ग) पंजाबीजी लिखते हैं कि 'नारदजी शिवजीमें भला दोष कैसे कह सकते हैं? इन्होंने दोष नहीं कहे वरञ्च गूढ़ वचन कहे, जो दम्पतिको दोष जान पड़ेंगे और हैं तो गुण ही।' वे अवगुणका अर्थ इस प्रकार करते हैं—'अव (धातुका अर्थ रक्षा है, उसके स्वामी रक्षक) के गुण दो-चार कहे। 'दो चार कहे' अर्थात् गुण कहकर मैं पार नहीं पा सकता, इससे दो-चार कहता हूँ।'

वि० त्रि०—यही मुनिका कौतुक है। उमाको तपके लिये भेजना चाहते हैं जिसमें उनका परम कल्याण हो। दोष न दिखावें तो माता-पिता तपके लिये आज्ञा देंगे नहीं। अतः पतिविषयक ऐसे विशेषण देंगे जो महादेवजीमें जाकर गुण हो जाते हैं, सामान्य जीवके लिये तो महा अवगुण हैं।

नोट—३ यहाँतक ग्यारह लक्षण गिनाये गये—सुन्दर १, सुशील २, सयानी ३, उमा ४, अंबिका ५, भवानी ६, *'संतत पिअहि पिआरी'* ७, *'अचल अहिवात'* ८, *'एहिं तें जसु पैहहिं पितु माता'* ९, *'होइहि पूज्य'* १० और *'एहि कर नाम सुमिरि......'* ११। ग्यारह ही लक्षण बतानेमें गूढ़ता यह है कि रुद्र ग्यारह हैं, ये रुद्राणी हैं। प्र० स्वामी 'उमा, अंबिका, भवानी' की जगह *'सकल गुन खानी, एहि सेवत कछु दुर्लभ नाहीं,* शैल सुलक्षण' को लेकर ११ पूरे करते हैं और 'शैल सुलक्षण' को एक गुण मानकर उसका अर्थ 'शैलके शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न' ऐसा करते हैं। प्रथम चार गुण कुमारी अवस्थाके और शेष विवाहितावस्थाके हैं, अतः लच्छन और सुलच्छनमें पुनरुक्ति नहीं है।

नोट—४ *'दुइ चारी'*=दो चार, कुछ। यह अल्पसंख्यासूचक मुहावरा है। दो-चार कहनेका भाव यह है कि जिसमें घबड़ा न जायँ। 'दो प्रथम कहकर तब चार कहा जिसमें घबड़ा न जायँ'—यह भाव यहाँ नहीं है, यहाँ दो-चारसे छ:का मतलब है। बनवासके समाचारमें जो 'चार दस' का भाव है, वह यहाँ लागू नहीं है। दो-चार मुहावरा है।

नोट—५ नारदजीसे मैनाजीके सखीद्वारा सुताके सौभाग्यसूचक चिह्नोंके पूछनेका प्रसंग प० पु० में भी है, वहाँ भी नारदजीने मुस्कुराकर पतिका ही वर्णन किया है और प्रकटरूपसे उनके शब्दोंका अर्थ दोषपरक ही हिमवान्‌ने समझा। जैसे वहाँ पतिका वर्णन बेटीका ही सौभाग्य (गुण या दोष) वर्णन माना गया, वैसे ही यहाँ पतिके गुण या दोष कन्याके ही सौभाग्यके गुण या दोष समझे जानेसे शंकाकी जगह नहीं रहती।

नोट—६ नारदजीके वचनोंके गूढ़ और प्रकट अर्थ निम्न चार्टसे स्पष्ट हो जायँगे।

नारद-वचन	प्रकट अर्थ	गुप्त ऐश्वर्यसूचक भाव
१ **सकल गुनखानी**	स्त्रियोंमें जो गुण चाहिये वे सब हैं।	गुण तीन हैं—सत्त्व, रजस्, तमस्। तीनोंकी खानि हैं अर्थात् त्रिगुणात्मिका माया हैं, मूलप्रकृति हैं। रजोगुणसे उत्पत्ति सत्त्वसे पालन और तमस्‌से संहार करती हैं। यथा—*'जगसंभवपालन लयकारिनि', 'भव भव बिभव पराभव कारिनि।'*
२ **नाम उमा अंबिका भवानी**	उमा, अम्बिका, भवानी नाम हैं	उमा अर्थात् प्रणव (ॐ) स्वरूपा हैं। अ, उ, म् प्रणवके तीनों अक्षर इस नाममें हैं। अंबिका वैदिक नाम है। यह मूलप्रकृतिकी भी संज्ञा है। इसमें भाव यह भी है कि ये षण्मुख और गणेशजीकी माता होंगी और जगत्‌की भी माता हैं। यथा—*'छमुख हेरंब अंबासि जगदंबिके शम्भुजायासि जय जय भवानी'* भवानी अर्थात् भवपत्नी, आद्याशक्ति हैं। अंबिका, भवानी और उमा क्रमशः भूत, भविष्य, वर्तमानके नाम जनाये।
३ **संतत पिअहि पिआरी**	निरन्तर पतिकी प्यारी होगी।	*'संतत'* और *'सदा अचल अहिवात'* से सूचित किया कि अनादिकालसे शिवजीकी अर्द्धाङ्गिनी हैं, दोनोंका नित्य-सम्बन्ध है, पति अविनाशी और यह भी अविनाशिनी। यथा—*'अजा अनादि शक्ति अबिनासिनि। सदा संभु अरधंग निवासिनि।'* (९८)
४ **'एहि ते जसु पैहहि·······'**	बड़ी प्रतिष्ठा होगी।	वरदायक अविनाशी शिवजीकी पत्नी होनेसे जगत्-पूज्य होगी। अर्धाङ्गमें निवास होगा। पतिव्रताशिरोमणि होगी इसीसे पतिव्रताएँ इसका व्रत और पूजन करेंगी।
'होइहि पूज्य·······'	पूज्य होगी।	रामचरितमानसको प्रकट कर लोकका हित करेगी। षण्मुखको
'त्रिय चढ़िहहिं'	पतिव्रता होगी।	जन्म देकर देवताओंका दुःख-हरण करेगी। इन सबमें माता-पिताका नाम होगा।

पूर्व और भी भाव टिप्पणियोंमें आ चुके हैं।

नोट—७ सुधाकर द्विवेदीजी गुप्त आशय इस प्रकार लिखते हैं—(क) *'सुंदर सहज सुसील सयानी'*—यहाँ सकारादि विशेषणसे प्रत्यक्षमें शरीर और स्वभावको कहा और छिपी बात यह है कि यह समय याने शिवमय है—**'नामैकदेशे नामग्रहणम्'** इस प्रमाणसे यह कहा। चारोंके आद्याक्षर लेनेसे 'सुससुस=सुश सुश। याने श (शङ्करजी) सु (सुष्ठु=अच्छी तरह) हैं। इस द्विरुक्तिसे पार्वतीके मनको उसके प्राणपति शङ्करका

सुसमाचार सुनाकर प्रसन्न भी कर दिया।' (ख) कृत्तिकाके तृतीय चरणोंमें होनेसे राशिनाम 'उमा' यह प्रत्यक्षमें कहा। और, 'उ' (महादेवकी) मा (लक्ष्मी) यह है—यह गूढ़ बात कही। 'अंबिका' अर्थात् जैसी अंबा (माता) है वैसी ही यह भी है, यह प्रत्यक्षमें कहा। और गूढ़ इसमें यह है कि जगज्जननी हैं। 'भवानी' प्रत्यक्ष भाव यह है कि तुम्हारे भाग्यसे यह 'भव' (संसार) में 'आनी' (लायी गयी) हैं और भव (शिव) की स्त्री हैं—यह छिपी बात कही। (ग) 'कुमारी'=कु (कुत्सित लोगोंको) मारी (मारनेवाली)। यह गुप्तार्थ है। **कुमारी**=कन्या। यह प्रत्यक्षमें कहा। 'सब लक्षण' का 'ब' '**वयोः सावर्ण्यात्**' से शव-लक्षण हुआ। अर्थात् मुर्देके लक्षणसे सम्पन्न है। यानी मुर्देके साथ विहार करनेवाली महिषासुरमर्दिनी कालिका है। यह गूढ़ बात कही। '**संतत पिय**'=सदा **पिय**=सदाशिव। सदाशिवको प्यारी होगी—यह गुप्तरूपसे कहा। '***सदा अचल एहि कर अहिबाता***' में गुप्त भाव यह है कि—स+दा=दानके सहित। अचल (**येन विष्णुना चलः अचलः**) याने विष्णु (राम) के प्रेमसे चञ्चल रहेगा। [वंदन पाठकजी '***सदा अचल एहि कर अहिवाता***' का अर्थ इस प्रकार करते हैं—'हे अचल (हिमवान्)! इनका अहिवाता (=**अहिवार्ता—अहीनां सर्पाणां वार्ता अस्मिन् इति अहिवार्तः शिवः**) याने महादेव अर्थात् पति सदा (=दानके सहित) अर्थात् महा उदार होगा'—यह गुप्तरूपसे कहा।] (घ) '***होइहि पूज्य सकल जग माहीं***' का गुप्तार्थ यह है कि—'***सकल***' (=कलाके साथ) अर्थात् पतिके साथ अर्धाङ्गिनी होकर जगमें पूजनीय होगी।' '***एहि सेवत कछु दुर्लभ नाहीं***'—के गुप्तार्थमें '**कछु**=कछुआ=कच्छपावतार। और पहला '**नानुस्वारविसर्गौ वृत्तभङ्गाय**' इस प्रमाणसे '***नाहीं***' का अर्धचन्द्र छोड़ देनेसे 'ना—अही' ऐसा पदच्छेद करनेसे '**दुर्लभ नाऽही**'=दुर्लभ पुरुष जो अही अर्थात् साँपवाले हैं, वह महादेवजी भी इसे (तुम्हारी बेटीको) सेवते हैं। अर्थात् यही आद्याशक्ति है। '***एहि कर नाम सुमिरि***' अर्थात् 'मैं सती होती हूँ' यह कहकर पतिके साथ सती होंगी। (ङ) '***दुइ चारी***' (अर्थात् ब्रह्मा और विष्णु इन दोनोंके चलानेवाले जो शिव पति हैं उनमें) जो अवगुण हैं उन्हें सुनिये।

अगुन अमान मातु पितु हीना। उदासीन सब संसय छीना॥ ८॥

दोहा—जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल बेष।
अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि परी हस्त असि रेख॥ ६७॥

अर्थ—गुणहीन, मानहीन, माता-पिता-विहीन, उदासीन, सर्वसंशयरहित (ला-परवा, बेफिकरा)॥ ८॥ योगी, जटाधारी, कामरहित मनवाला, नंगा और अमङ्गलवेषवाला—ऐसा पति इसको अवश्य मिलेगा। इसके हाथमें ऐसी रेखा पड़ी है॥ ६७॥

नोट—१ शिवपुराणमेंके—'**एका विलक्षणा रेखा तत्फलं शृणु तत्त्वतः॥ १०॥ योगी नग्नोऽगुणोऽकामी मातृतातविवर्जितः। अमानोऽशिववेषश्च पतिरस्याः किलेदृशः**॥ ११॥' (२। ३। ८)—इस श्लोकके '**योगी, नग्नः, अगुणः, अकामी, मातृतातविवर्जितः, अमानः, अशिववेषः, पतिरस्याः**, करे गिरे। **एका विलक्षणा रेखा**' शब्द मानसके '***योगी, नगन, अगुन, अकाम, मन, मातुपितुहीना, अमान, अमंगलबेष, अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि, परी हस्त असि रेख***' ये हैं। मानसमें '***उदासीन सब संसय छीना***' और '***जटिल***' ये दो विशेषण अधिक हैं।

☞पूरा प्रसंग शिवपुराणरुद्रसंहिताके पार्वतीखण्डमें है और विशेषकर अक्षरशः मिलता है।

टिप्पणी—१ प्रत्यक्षरूपमें जो गुण पार्वतीजीमें कहे, उनके विपरीत पतिमें अवगुण दिखाते हैं। जिसका तात्पर्य यह है कि सुताके योग्य वर न मिलेगा।

सुता	पति	सुता	पति
१ गुणखानि	अगुण	३ मातापिताको यश देनेवाली	मातुपितुहीना
२ जगत् पूज्य	अमान	४ सहजसुशील	उदासीन

५ सहज सुंदरजोगी जटिल अमंगलवेष	६ सहज सयानी अकाममन, संशयक्षीण ☞संशयक्षीण होना गुण है पर विरक्तके लिये न कि गृहस्थके लिये। गृहस्थके लिये यह दोष है। इसीसे इसे दोषमें गिनाया।

टिप्पणी—२ *'जोगी जटिल……'* इति। नारदजीने दो-चार अवगुण कहनेकी प्रतिज्ञा की पर वस्तुत: कहा एक ही, वह यह कि इसे योग्य वर न मिलेगा। यह क्यों? इस शङ्काका समाधान यह है कि वरके दोषसे कन्या भी दूषित हुई। जैसे कि—

(क) वर मातुपितुहीन हुआ तो कन्या सासु-श्वशुरहीना हुई।

(ख) पतिके अमङ्गलवेषसे स्त्रीकी भी सुन्दरता गयी। यथा—*'गिरा मुखर तन अरध भवानी।'*

(ग) योगीके साथ विवाह होनेसे यह भी योगिनी कहलायेगी, रानी नहीं।

(घ) नंगेके साथ ब्याहे जानेसे यह भी दरिद्रा हुई।

ये चार दोष हुए।

नोट—२ पं० रामकुमारजीका 'दो-चार' और 'सुताके दोष' वाली शंकाका समाधान उपर्युक्त टिप्पणी-२ में आ गया। सुधाकरजीने 'दुइ-चारी' का अर्थ 'महादेव' किया है—यह पूर्व दिखाया गया है। और वंदन पाठकजी 'दुइ-चारी' का अर्थ 'दो चौक आठ' करते हैं और अगुन, अमान, मातुपितु-हीना, उदासीन, सब संसय छीना, जटिल जोगी, अकाम मन और नगन अमङ्गलवेष—ये आठ अवगुण गिनाते हैं। इस दोनकी समझमें यदि मातु-पितु, जोगी जटिल और नगन-अमङ्गलवेषको दो-दो जोड़ें, जैसा वस्तुत: जोड़ना चाहिये, तो ग्यारह लक्षण (दोष) शिवजीमें और अर्धाङ्गिनी तथा पतिपत्नीकी एकरूपतासे पार्वतीजीमें होते हैं। वरके दोष ग्यारह गिनाकर उनको रुद्र सूचित किया गया है—ऐसा कह सकते हैं। ☞नारदजीके इन शब्दों-(दोषों-) के कुछ प्रकट और हार्दिक गुप्त भाव यहाँ तालिका वा चार्टमें दिये जाते हैं और कुछ आगे नोटमें दिये जायँगे।

	प्रकट दोषपरक अर्थ	कुछ हार्दिक ऐश्वर्यपरक भाव
१ *अगुन*	एक भी गुण नहीं है	निर्गुण सत्त्व-रज-तम तीनों गुणोंसे परे गुणातीत है।
२ *अमान*	अप्रतिष्ठित, तुच्छ, स्वात्माभिमान-रहित *'अगुन अमान जानि तेहि दीन्ह पिता बनवास।'*	(१) निरभिमान, अभिमानजित्, सरल-स्वभाव, भोले-भाले। (२) इयत्ताशून्य। अपरिमित, अतुल, अनन्त महिमावाले। (३) **'येन विष्णुना मानः सम्मानो यस्य'** जिसमें विष्णुके सब गुण हैं और जो उनसे भी सम्मानित होता है। (मा० प०) (४) विराट (सू० प्र० मिश्र)। (५) ऐश्वर्यशाली होनेका किंचित् गर्व नहीं (पद्मपुराण)।
मिलान कीजिये	लं० ३१।' (भी देखिये)	
३ *मातु-पितु-हीना*	इसके सास-श्वशुर नहीं हैं। पतिके माँ-बापका पता नहीं।	अजन्मा है, स्वयं प्रकट हुआ, अथवा ब्रह्माकी सृष्टिके नहीं हैं, सृष्टिसे बहिर्भूत। वर जगत्‌का पिता है, उसके माता-पिता कौन और कहाँ? वे जात नहीं, किन्तु जनक हैं। अयोनिज हैं।
४ *उदासीन*	त्यागी, रूखे स्वभावका, घरद्वार-रहित संसारसे अलग।	(१) जीवमात्रपर सम दृष्टि रखनेवाला, शत्रुमित्ररहित, निर्लेप। (२) (मा० प०)—*'उत्+आसीन*=सबसे ऊपर बैठनेवाला।' (३) मायारहित।
५ *सब संसय-छीना*	घरबार और खाने-पीनेकी चिन्ता नहीं। अर्थात् बेटी भूखों मरेगी। किसीका डर नहीं। बेफिकरा।	(१) जीवोंके भ्रम, संशय आदिके छुड़ानेवाले हैं और अपने तो संशय-मोह-भ्रमरहित हैं ही। (२) *'बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय……'* यह गुण जनाया।

		(३) निर्मल, स्वतन्त्र'—(मा० प०)। (४) व्यावहारिक और पारमार्थिक दोनों चिन्ताओंसे रहित, प्रभुपर निर्भर। (५) ***'परम स्वतन्त्र न सिर पर कोई'*** का भाव भी हो सकता है। (६) निश्चल ज्ञान और बुद्धिवाला।
६ ***जोगी***	जोगड़ा, पाखंडी, भीख माँगनेवाला।	नित्य परमात्मामें आत्मवृत्ति लगाये हुए हैं। योगीश्वर हैं। सब सिद्धियाँ इनके वशमें हैं।
७ ***जटिल***	बड़ी-बड़ी जटाओंवाला। भयानक	अनादिकालीन हैं। जिनकी जटाओंमें गङ्गाजी लीन हो गयीं ऐसी जटाओंवाले चिरकालीन तपस्वी हैं। मुण्डन आदि संस्कार कौन करता? वे तो सबके आदि हैं।
जटिल जोगी	जटाधारी जोगड़ा	अवधूत योगीश्वर अर्थात् सिद्ध हैं।
८ ***अकाम मन***	नपुंसक है। सुताको पतिका सुख न होगा।	कामजित् हैं। पूर्णकाम हैं, यथा ***'का देउँ पूरनकाम संकर।'*** (बा० १०१) निष्काम।
९ ***नगन***	नंगधड़ङ्ग, नंगा, निर्लज्ज; एकाकी (अकेला), यथा ***'सहज एकाकिन्हके गृह·····'***	(१) दिशा ही जिनका वस्त्र है। दिगम्बर। माया-आवरणरूपी वस्त्ररहित। (२) 'ऐसा महत् आकार है कि दसों दिशाएँ इसके वस्त्र हैं'—यह सामर्थ्य दिखाया। (पं०) (३) एक न गण=जिसके गण अर्थात् साथी न हो। =एकाकी=अद्वितीय।' (मा० प०)।*
१० ***अमंगल वेष***	***'ब्याल कपाल बिभूषन छारा।'*** इत्यादि अशुभ वेष है। अर्थात् सुलक्षणहीन है।	अ=अतिशय, यथा—***'बुंद अघात सहहिं गिरि कैसे'*** में ***अघात***=अतिशय घात। अ-मङ्गल=अतिशय मङ्गलकारी। (२)—**'येन विष्णुना मङ्गलवेषो यस्य स अमङ्गलवेषः।'** अर्थात् विष्णुके प्रभावसे सदा मङ्गलरूप। (मा० प०)। पुनः, अमङ्गल=**न विद्यते मङ्गलं यस्मात्**-जिससे बढ़कर मङ्गल नहीं है।

नोट—३ प० पु० सृष्टिखण्ड पार्वती-जन्म-प्रसङ्गमें नारदजीने जो लक्षण पतिके कहे हैं उनका तात्पर्य भी फिर उन्होंने हिमवान्‌को समझाया है। उन लक्षणोंमेंसे कुछके भाव ***'मातु पितुहीना'*** और ***'सब संसय छीना'*** में आ जाते हैं। अतः वे यहाँ लिखे जाते हैं।—माता-पिता नहीं हैं। तात्पर्य कि वास्तवमें उनका जन्म नहीं। भूत, भविष्य और वर्तमान जगत्‌की उत्पत्तिके कारण वे ही हैं। यह ब्रह्माण्ड उन्हींके संकल्पसे उत्पन्न हुआ। वे जात नहीं, जनक हैं; पुत्र नहीं, पिता हैं। ***'सब संसय छीना'*** का भाव यह है कि वे सबको शरण देनेवाले एवं शासक, सनातन, कल्याणकारी और परमेश्वर हैं। ब्रह्माजीसे लेकर स्थावरपर्यन्त

---

* सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि—'नग्न' शब्दके कई अर्थ शास्त्रोंमें लिखे हैं। १—'नग्नः काषायवस्त्रः स्यान्नग्नः कौपिनिकावृतः।' (शब्दार्थचिन्तामणि) २—'द्विकच्छः कच्छशेषश्च मुक्तकच्छस्तथैव च। एकवासा अव्यस्तश्च नग्नः पञ्चविधः स्मृतः। येषां कुले न वेदोऽस्ति न शास्त्रं नैव च व्रतम्।' (मार्कण्डेयपुराण) ३—'ते नग्नाः कीर्तिताः सद्भिस्तेषामन्नं विगर्हितम्। ऋग्यजुःसामसंज्ञेयं त्रयो वर्णावृतिर्द्विज।' (विष्णुपुराण) ४—एता मुह्यन्ति यो मोहात् स नग्नः पातकी स्मृतः' (मा० प०) इन प्रमाणोंके अनुसार 'नग्न' के ये भाव होते हैं।

यह जो संसार है वह जन्म, मृत्यु आदिके दुःखसे पीड़ित होकर निरन्तर परिवर्तित होता रहता है किन्तु महादेवजी अचल और स्थिर हैं। वे जगत्के स्वामी और आधिव्याधिरहित हैं। सर्वज्ञ हैं।

नोट—४ जो वरके दोष वरमें गिनाये, उनका तात्पर्य यह हुआ कि पुत्री तो सुलच्छना है, पर वर 'लच्छनहीन' है। लच्छनहीनका अभिप्राय यह है कि शरीरके अवयवोंमें जो चिह्न या रेखाएँ होती हैं वे सीमित आयु, धन और सौभाग्यको व्यक्त करनेवाली होती हैं, परन्तु जो अनन्त और अप्रमेय है उसके अमित सौभाग्यको सूचित करनेवाला कोई चिह्न या लक्षण शरीरमें नहीं होता। जीवके शरीरमें जो सीमित लच्छन होते हैं वे इनमें नहीं हैं। अर्थात् ये ईश्वर हैं।

नोट—५ पार्वतीमङ्गलमें शशिशेखर शिवजी वटुवेश धारणकर पार्वतीजीकी प्रेमपरीक्षा लेने गये हैं तब उन्होंने भी इन्हींसे मिलते-जुलते हुए पतिके लक्षण कहे हैं। यथा—'*कहहु काह सुनि रीझिहु बर अकुलीनहिं। अगुन अमान अजाति मातु-पितु-हीनहिं॥ भीख माँगि भव खाहिं चिता नित सोवहिं। नाचहिं नगन पिसाच पिसाचिनि जोवहिं॥ भाँग धतूर अहार छार लपटावहिं। जोगी जटिल सरोष भोग नहिं भावहिं॥ सुमुखि सुलोचनि हर मुखपंच तिलोचन। बामदेव फुर नाम काममदमोचन॥ एकउ हरहि न बर गुन कोटिक दूषनु। नरकपाल गजखाल ब्याल-बिषभूषनु॥ कहँ राउर गुनसील सरूप सुहावन। कहाँ अमंगल बेषु बिसेषु भयावन॥*' (३१—३३) इस उदाहरणमें उदासीन और संशयछीन दोको छोड़ और सब शब्द आ गये हैं। 'उदासीन' का भाव '*भोग न भावहिं*' एवं '*भीख माँगि भव खाहिं*' में और 'संसयछीन' का भाव '*चिता नित सोवहिं*' और '*भाँग धतूर अहार*' में आ जाते हैं। '*नरकपाल गजखाल ब्याल*' '*छार लपटावहिं*' '*जोगी जटिल*'—यह सब 'अमङ्गल बेष' है।

'*सैल सुलच्छन सुता तुम्हारी*' कहकर फिर सुताके सौभाग्य-दोष कहनेमें पतिके ग्यारह दोष गिनाकर पार्वतीमङ्गल ३३ का भाव यहाँ भी सूचित किया है कि तुम्हारी कन्या तो सुलक्षणा है अर्थात् उसका सुहावन रूप, गुण और शील है परन्तु वर लक्षणहीन है; उसमें न रूप है, न गुण है और न शील है, वह अमङ्गलवेष और भयावन है। सारांश यह कि वह बावला है; यथा—'*हिमवान कन्या जोगु बरु बाउर बिबुधबंदित सही॥ मोरेहु मन अस आव मिलिहि बरु बाउर॥*' (१०-११) (नारद-वचन)......'*कहा मोर मन धरि न बरिय बर बौरेहि॥ ३४॥*' (वटुवचन। पार्वतीमङ्गल)। '*जोगी जटिल......बेष*' ये बावलोंके लक्षण हैं। दक्षने भी ऐसा ही कहा है, यथा—'**प्रेतावासेषु घोरेषु प्रेतैर्भूतगणैर्वृतः। अटत्युन्मत्तवन्नग्नो व्युप्तकेशो हसन् रुदन्॥ चिताभस्मकृतस्नानः प्रेतस्रङ्न्रस्थिभूषणः। शिवापदेशो ह्यशिवो मत्तो मत्तजनप्रियः।......पतिः प्रमथभूतानां तमोमात्रात्मकात्मनाम्॥**' (भा० ४। २। १४-१५) अर्थात् यह प्रेतोंके निवासस्थान भयंकर श्मशानादिमें भूतप्रेतोंसे घिरा हुआ उन्मत्तके समान नंगा और बाल बिखरे कभी हँसता और कभी रोता हुआ घूमा करता है, शरीरमें चिताकी भस्म लगाये रहता है, गलेमें प्रेतोंके मुण्डोंकी माला और अङ्गप्रत्यङ्गमें हड्डियोंके आभूषण पहने रहता है। इसका नाम शिव है पर है 'अशिव'। यह स्वयं भी मतवाला है और मतवाले पुरुष ही इसे प्रिय हैं। यह निर्लज्ज है, तामसी प्राणियोंका नायक है।—ये सब भाव दोष-पक्षमें यहाँ '*जोगी......बेष*' में हैं।

नोट—६ '*एहि कहँ मिलिहि*' अर्थात् वर स्वयं आकर मिलेगा। ऐसा कहकर पार्वतीजीकी प्रधानता सूचित की। (पां०) '*परी हस्त असि रेख*' का भाव कि एक ही रेखा ऐसी विलक्षण पड़ गयी है।

सुनि मुनि गिरा सत्य जिय जानी। दुख दंपतिहि उमा हरषानी॥ १॥
नारदहूँ यह भेदु न जाना। दसा एक समुझब बिलगाना॥ २॥
सकल सखीं गिरिजा गिरि मैना। पुलक सरीर भरे जल नैना॥ ३॥

अर्थ—नारद मुनिकी वाणी सुनकर और उसे जीमें सत्य जानकर पति और पत्नी-(हिमवान् और मैना-) को दुःख हुआ और उमाजी प्रसन्न हुईं॥ १॥ नारदजीने भी इस मर्मको न जाना, (क्योंकि) दशा एक (-सी) है पर समझ भिन्न-भिन्न है॥ २॥ सारी सखियाँ, पार्वतीजी, हिमवान् और मैना-(सभी-) के शरीर पुलकित थे और नेत्रोंमें आँसू भरे थे॥ ३॥

टिप्पणी—१ '*सुनि मुनि गिरा सत्य जिय जानी।......*' इति। (क) मुनिने तो गुण और दोष दोनों

कहे। दुःख जो हुआ वह अवगुण सुनकर, गुण सुनकर दुःख नहीं हुआ। अतः यहाँ *'गिरा'* से *'सुनहु जे अब अवगुन दुइ चारी'* वाला अंश *'अगुन अमान……'* से *'अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि……'* तक अभिप्रेत है। ☞जहाँ जितना प्रयोजन है उतना ही अंश लिया जाना चाहिये। ग्रन्थमें और भी ऐसे ही प्रयोग आये हैं। यथा—*'सभय रानि कह कहसि किन कुसल रामु महिपाल। लषनु भरतु रिपुदमनु सुनि भा कुबरी उर साल॥'* (अ० १३)—यहाँ कुबरीको राम 'कुशल' पूछनेसे ही उरमें शाल हुआ न कि भरतजीके कुशल-प्रश्नसे। पुनश्च—*'हृदय सराहत सीय लोनाई। गुर समीप गवने दोउ भाई॥'* (बा० २३७)—यहाँ श्रीसीताजीका लावण्य श्रीरामजी ही हृदयमें सराह रहे हैं, लक्ष्मणजी नहीं। (ख) *'सत्य जिय जानी'*—दुःख अथवा हर्षका कारण यही है। सबको पूर्ण विश्वास है कि मुनिकी वाणी असत्य नहीं हो सकती। यथा—*'सुनि मुनि गिरा सत्य जिय जानी', 'होइ न मृषा देवरिषि भाषा'* (उमाजीका विश्वास), *'झूठि न होइ देवरिषि बानी। सोचहिं दंपति……'* (दंपतिविश्वास)।

नोट—१ दम्पतिको दुःख होनेका कारण यह है कि कन्याके माता-पिताको सदा यही अभिलाषा रहती है कि पतिका घर हरा-भरा हो, कुल अच्छा हो, वर सुन्दर हो, श्रुतज्ञ और शास्त्रज्ञ हो, इत्यादि। और माताकी विशेष अभिलाषा यह रहती है कि पति धनवान् हो, खाने-पीने पहिननेका पूर्ण सुख हो। यथा— **'कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम्। बान्धवाः कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः॥'** इति मनुः। अर्थात् कन्या सुन्दर पति चाहती है, माता धनवान् और पिता श्रुतज्ञ दामाद चाहता है। बन्धुवर्ग अच्छा कुल और बराती मिष्टान्न (मिठाई) भोजन चाहते हैं। नारदजीने पतिको नग्न, संशयक्षीण, मातु-पितुहीन, अकाममन, उदासीन और अमङ्गलवेष आदि कहा, तो वे सोचमें पड़ गये कि उसके पास स्वयं वस्त्र नहीं तो लड़कीको क्या पहनायेगा। नपुंसक है, प्रेम तो वह जानता ही नहीं तब कन्या उसके यहाँ कैसे सुखी रहेगी? ऐसा बुरा पति हमारी कन्याके भाग्यमें है यह सोचकर वे शोक-दुःखसे ऐसे विह्वल हुए कि रोंगटे खड़े हो गये और नेत्रोंमें अश्रु भर आये। पार्वतीजीको हर्ष हुआ क्योंकि उन्होंने देखा कि जो लक्षण मुनिने कहे वे सब शिवजीमें हैं और उन्हें यह भी विश्वास है कि नारदजीका वचन अवश्य सत्य होगा। अतः शिवजीकी प्राप्तिका निश्चय होनेसे वे हर्षित हुईं। हर्षके मारे प्रेमाश्रु निकल आये और शरीर पुलकायमान हो गया। ☞*'सती मरत हरि सन बर माँगा। जनम जनम सिवपद अनुरागा॥'*—इस वरकी सिद्धि नारद-वचनसे जान पड़ी। अतः हर्ष हुआ।

☞देखिये, वचन एक ही है पर उनके अर्थ भिन्न-भिन्न समझनेसे भिन्न-भिन्न भाव (दुःख, हर्ष) उत्पन्न हुए। उपर्युक्त व्याख्यासे यह भी स्पष्ट है कि नारदजीके गूढ़ वचनोंका आशय पार्वतीजी समझ गयीं और कोई न समझ पाया। मिलान कीजिये—*'मोरेहु मन अस आव मिलिहि बरु बाउर। लखि नारद नारदी उमहि सुखु भा उर॥ सुनि सहमे परि पाँय कहत भए दंपति।'* (पार्वतीमङ्गल)

टिप्पणी—२ *'नारदहूँ यह भेदु न जाना।……'* इति। *'नारदहूँ'* से जनाया कि वहाँ जितने लोग, राजा-रानी और सखियाँ थीं उनमेंसे किसीने न जाना और नारदजी जो सर्वज्ञ हैं उन्होंने भी न जान पाया। (ख) *'यह भेदु'* अर्थात् दम्पति और सखियोंकी यह दशा और उमाकी उसी दशामें जो भेद है वह न जाना, दशा एक है, पर कारण भिन्न-भिन्न हैं—यह भेद न जाना। उमाकी यह दशा हर्षसे है, वही दशा दम्पति आदिकी दुःखसे हुई। (ग) *'दसा एक समुझब बिलगाना'*—यह भेद न समझ पानेका कारण बताया कि दशा सबकी एक है—*'पुलक सरीर भरे जल नैना'* पर समझका भेद है। नारदजीने भेद क्यों न जान पाया? इसका कारण यह है कि उमाजी अपनी प्रीतिको छिपाती हैं। जिस बातको भगवती छिपाना चाहे उसे कोई नहीं जान सकता। यथा—*'जानि कुअवसरु प्रीति दुराई। सखी उछंग बैठी पुनि जाई॥'* पार्वतीजी ईश्वरकोटिमें हैं।

नोट—२ नारदजीने भेद न जाना, तो समझा क्या? वे यही समझे कि माता-पिताको दुःखित देखकर उमा भी दुःखित हो गयीं। इसीसे इनकी भी यह दशा हुई। दूसरेका दुःख देखकर स्नेहीको दुःख होता ही है। यथा—*'सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयउ प्रेमबस हृदय बिसादू॥ तनु पुलकित लोचन जल बहई'।* (अ० ९०) निषादराजको श्रीरामजीको पृथ्वीपर सोते देख दुःख हुआ था।

नोट—३ सन्त उन्मनी टीकाकार *'समुझब बिलगाना'* का अर्थ यह लिखते हैं—उसका समझ लेना बिलग ही रीति है। भाव यह कि ईश्वरकी गति ईश्वरकी कृपाके अधीन है। अभ्यासाधीन नहीं। इसीसे नारदजीने न जान पाया।' यहाँ 'मीलित' अलङ्कार है क्योंकि योगिराज देवर्षिको भी पता न चला। पूर्व ५६ (४) *'तब संकर देखेउ धरि ध्याना'* में बता चुके हैं कि जीव स्वतः सर्वज्ञ नहीं है, वह ईश्वरकी कृपासे ध्यानद्वारा ही सब बात जान सकता है।

नोट—४ भावार्थान्तर—(१) 'यह भेद न जाना अर्थात् यह जाना कि उमा सतीका अवतार हैं और शिवजीके साथ इसका विवाह होगा। जब गिरिजाके लक्षण भवानीकी एक दशा मिल गयी। पुनः गिरिजापति शङ्करकी एक दशा मिलि आयी, इत्यादि। तब एक दशा समझनेसे भेद बिलगा गया अर्थात् नारदजीने जान लिया कि ये सती-अवतार हैं, शङ्करजी इनके पति होंगे।'—(वै०) (२) 'महादेवजी पुरुष हैं। उनकी आद्याशक्ति उमा हैं जो प्रकृति हैं। पुरुष-प्रकृतिके भेदको नारदजीने न जाना, क्योंकि दोनोंकी दशा एक है अर्थात् दोनोंमें अभेद है। समझनेमें प्रकृति पुरुष ये दो नाम होनेसे अलग मालूम होते हैं।' (सु० द्विवेदीजी) (३) 'नारदजीने भी न जाना कि ऐसे वर शङ्करजी हैं। यह चौपाई पार्वतीजीकी उक्ति मालूम होती है। वे सोचती हैं कि यदि नारदजीको मालूम होता तो शङ्कर नाम सुनाकर क्या वे मेरे माता-पिताके क्लेशको न हटा देते?'—(सू० प्र० मिश्र)—परन्तु इन भावोंसे और *'कह मुनि बिहँसि गूढ़ मृदु बानी'* तथा *'नारद समाचार सब पाए'* से विरोध पड़ता है।

नोट—५ ☞शिवपुराणमें **'इत्याकर्ण्य वचस्ते हि सत्यं मत्वा च दम्पती। मेना हिमाचलश्चापि दुःखितौ तौ बभूवतुः॥''''''जगदम्बिका जहर्षांति मुने हृदि॥'** (८। १२-१३)—केवल इतना ६८ (१) से मिलता है। *'नारदहूँ यह भेद न जाना।''''''नैना॥'* उसमें नहीं है। यह अंश वक्ताकी टिप्पणी वा आलोचना है।

टिप्पणी—३ *'सकल सखीं गिरिजा गिरि मैना।''''''* इति। [(क) 'सखीं=सखियाँ। अनुस्वार देकर बहुवचन सूचित किया गया है।] (ख)—दुःख और सुख दोनोंमें यह दशा होती है। यथा—*'कहि प्रनामु कछु कह न लिय सिय भइ सिथिल सनेह। थकित बचन लोचन सजल पुलक पल्लवित देह॥'* (अ० १५२)—यहाँ दुःखसे पुलक हुआ। वियोगमें स्नेहकी वृद्धि होना 'दुःख' कहलाता है। संयोगमें स्नेहकी वृद्धि होना 'सुख' कहलाता है। यथा—*'एक सखी सिय संग बिहाई। तेहि दोउ बंधु बिलोके जाई॥ प्रेम बिबश सीता पहिं आई॥ तासु दसा देखी सखिन्ह पुलक गात जलु नयन। कहु कारनु निज हरष कर पूछहि सब मृदु बयन॥'* (बा० २२८)—यह दशा संयोग-सम्बन्धके हर्षकी है। इसमें भी *'पुलक गात'* और *'जलु नयन'* हैं। (ग) *'पुलक सरीर भरे जल नैना'*—यह दशा कहलाती है, यथा—*'तासु दसा देखी सखिन्ह पुलक गात जलु नयन।'* इसीसे पूर्व अर्धालीमें इसे दशा कहा—*'दसा एक''''''।'* हर्ष और शोकके अश्रु आदिकी पहचान। बा० २२८ में देखिये।

नोट—६ नारदजीके आगमनपर केवल शैलराजको आदर-सत्कार आदि करना कहा गया। पूर्व *'नारि सहित मुनिपद सिरु नावा'* (६६) और *'दुख दंपतिहि उमा हरषानी'* (६८) कहा। अब यहाँ शैलराजकी रानीका नाम बताया कि 'मैना' है और यह भी बताया कि सखियाँ भी यहाँ आयी हैं। जब *'सुता बोलि मेली मुनि चरना'* तब ये सखियाँ ही पार्वतीजीको लेकर आयी थीं और तबसे यहीं हैं। मेनाजी कौन हैं? किसकी पुत्री हैं? शब्दसागरमें तीन मेनाओंका उल्लेख है—हिमवान्‌की स्त्री मेनका; बृषणश्वकी मानसी कन्या मेना। (ऋग्वेद); और पितरोंकी मानसी कन्या मेनका। ब्रह्माण्डपुराण और कुमारसम्भवमें इन्हें पितरोंकी मानसी कन्या कहा है। यथा—**'स मानसी मेरुसखः पितॄणां कन्यां कुलस्य स्थितये स्थितिज्ञः। मेनां मुनीनामपि माननीयामात्मानुरूपां विधिनोपयेमे॥'** (कुमारसम्भव १। १८) **'तेषां तु मानसी कन्या मेना नाम महागिरेः। पत्नी हिमवतो यस्याः पुत्रो मैनाक उच्यते॥'** (ब्रह्माण्डपुराण)—अर्थात् पितरोंकी उस मानसी कन्या मेनाको मुनियोंकी माननीया और अपने अनुरूप जानकर गिरिराज हिमवान्‌ने वंशवृद्धिके लिये ब्याह लिया। मैनाक मेनाका पुत्र है और पार्वतीजी पुत्री हैं। इस सम्बन्धसे भी स्पष्ट है कि हिमवान् पर्वतोंके अधिष्ठातृ देवता ही हैं।

होइ न मृषा देवरिषि भाषा। उमा सो बचनु हृदय धरि राखा॥ ४॥
उपजेउ सिवपदकमल सनेहू। मिलन कठिन मन* भा संदेहू॥ ५॥
जानि कुअवसर प्रीति दुराई। सखी† उछंग बैठी पुनि जाई॥ ६॥

अर्थ—देवर्षि नारदका कहा हुआ असत्य नहीं हो सकता। उमाजीने उस वचनको हृदयमें धर रखा॥ ४॥ शिवजीके चरणकमलोंमें स्नेह उत्पन्न हुआ। (पर) मिलना (प्राप्ति) कठिन है (यह जानकर) मनमें संदेह हुआ॥ ५॥ कुअवसर जानकर (ठीक मौका न समझकर) प्रीतिको छिपाकर सखीकी गोदमें फिर जा बैठीं॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'होइ न मृषा देवरिषि भाषा॥……'* इति। (क) भाव कि देवताओंका वचन असत्य नहीं होता, उसपर भी ये देवर्षि हैं तब इनका वचन कैसे असत्य हो सकता है?' **'ऋषिः सत्यवचाः'** जो सत्य बोले वह ऋषि कहलाता है। ये देव और ऋषि दोनों हैं। (ख) *'उमा सो बचनु हृदय धरि राखा'* में भाव यह है कि और सब लोग चाहते हैं कि नारदजीका वचन किसी उपायसे मिट जाय अर्थात् उमाको ऐसा वर न मिले; यथा—*'उर धरि धीर कहै गिरिराऊ। कहहु नाथ का करिय उपाऊ॥'* किन्तु उमाजीने उनका वचन हृदयमें धर लिया, अर्थात् ये वचन झूठ नहीं होनेके, शिवजी ही मेरे पति होंगे, यह विश्वास किया, क्योंकि उन्होंने नारदजीको गुरु मान लिया; यथा—*'गुरुके बचन प्रतीति न जेही। सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेही॥'* (८०) (ये उमाजीके वचन हैं)। *भाषा*=कहा हुआ वचन।

टिप्पणी—२ *'उपजेउ सिवपदकमल सनेहू॥……'* इति। (क) नारदजीके वचन हृदयमें धारण करनेसे शिवपदकमलमें अनुराग हुआ, क्योंकि नारदजीने स्पष्ट कहा है कि *'अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि'* इसमें तात्पर्य यह है कि गुरु और सन्तकी वाणीको दृढ़ पकड़नेसे भगवान्‌में प्रेम होता है। यथा—*'सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत॥'* (बा० २२९) पुनः भाव कि—[*'सतीं मरत हरि सन बर माँगा। जनम जनम सिव पद अनुरागा॥'* (६५) इसीसे इस जन्ममें *'उपजेउ शिवपदकमल सनेहू।'*, इसीसे 'उपजना' कहा। (ख) *'मिलन कठिन मन भा संदेहू'*—शिवजीका संकल्प दृढ़ है, इससे सन्देह हुआ। पर यह संदेह शिथिल है; स्नेहसे प्रेमास्पदकी प्राप्ति अवश्य होती है, यथा—*'जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु संदेहू॥'* (बा० २५९)]

नोट—१ भावार्थान्तर—(क) 'यह प्रेम पूर्वाभिलाष है।'—(वै०) (ख) 'पार्वतीजीके हृदयमें पतिवियोगकी आग जल रही है। नारदजीकी रसभरी बातको उस हृदयाग्निमें धरते ही उससे स्नेह टपकने लगा।' (सु० द्विवेदीजी)

(ग) 'वरका मिलना माता-पिताके अधीन है। सो ये तो लक्षण सुनते ही दुःखित हो गये हैं। जो ये न चाहेंगे तो मैं क्या कर सकूँगी?—(सू० प्र० मिश्र, वै०) इस दीनकी समझमें तो कठिनता वही है जो नारदजीने आगे कही है कि—*'दुराराध्य पै अहहिं महेसू।'* इसीसे संदेह हुआ।

टिप्पणी—३ *'जानि कुअवसरु प्रीति दुराई॥……'* इति। (क) *'कुअवसर'* यह कि सभी दुःखी हैं, रो रहे हैं, उनके सामने हमारा हर्ष प्रकट हो जानेसे उन्हें संदेह होगा। (माता-पिता दुःखित हों और बालक आनन्दमें हो तो अवश्य आश्चर्य होगा, क्योंकि बालस्वभाव ऐसा होता है कि माता-पिताको रोते देख बच्चे भी रो उठते हैं।) शिवजीकी प्राप्ति अभी नारदजीने भी गुप्त रखी है; क्योंकि यहाँ खोलना योग्य नहीं है। (अतः इन्होंने भी प्रेम गुप्त रखनेके लिये यह बालचरित किया कि बालस्वभावसे जाकर सखीकी गोदमें बैठ गयीं।) *'पुनि जाई'* से जनाया कि पहले गोदमें बैठी थीं, मुनिको प्रणाम करनेके लिये उतार दी गयी थीं। *'सुता बोलि मेली मुनि चरना'* से *'परी हस्त असि रेख'* तक सखीकी गोदसे पृथक् नारदजी वा माताके पास रहीं।

* भा मन—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। मन भा—१६६१, १७०४।

† १६६१ की प्रतिमें 'सखि' के 'ि' पर कुछ हरताल जान पड़ता है और 'ी' पतली लकीर फीकी स्याहीसे बनायी गयी है। उछंगके अनुस्वारको ँ मानकर पढ़ना होगा। पाठान्तर—'सखी उछंग बैठि।'

नोट—२ *'कुअवसर'* इति। माता-पिता, सखियाँ और त्रिकालज्ञ एवं सर्वज्ञ ऋषि सब समीप हैं। उनपर हमारा पतिप्रेम प्रकट न हो जाय। अबोध बाल्यावस्थामें ही पतिका नाम सुनकर उसमें प्रेम होना प्रकृतिके प्रतिकूल है। अत: *'कुअवसर'* कहा। पुन: भाव कि 'अभी माता-पिता और मुनिका संवाद सुनना-समझना उचित है। इसके उपरान्त जो कर्तव्य होगा करूँगी।' (पं०) पुन: भाव कि माता-पिता कहीं यह न समझें कि मुझे दु:ख हुआ जिससे वे और व्याकुल हों। अत: *'कुअवसर'* कहा।' (पं०)—विशेष *'कुसमय जानि'''''' ॥'* (१।५०।२) देखिये।

नोट—३ शिवपुराणमें मानसके *''होइ न मृषा शिवपदकमल सनेहू'* का तुल्यार्थी श्लोक यह है—'**न मृषा नारदवचस्त्विति संचिन्त्य सा शिवा। स्नेहं शिवपदद्वन्द्वे चकारातिहृदा तदा॥**' (८।१४) *'जानि कुअवसर'* ये शब्द मानसकारके हैं।

झूठि न होइ देवरिषि बानी। सोचहिं दंपति सखीं सयानी॥ ७॥
उर धरि धीर कहै गिरिराऊ। कहहु नाथ का करिअ उपाऊ॥ ८॥
दो०—कह मुनीस हिमवंत सुनु जो बिधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार॥ ६८॥

अर्थ—'देवर्षिकी वाणी झूठी नहीं होनेकी' (यह जानकर) स्त्री-पुरुष (हिमवान् और मैना) और सयानी सखियाँ सोच (चिन्ता कर) रही हैं॥ ७॥ हृदयमें धैर्य धारणकर गिरिराज बोले—हे नाथ! कहिये। क्या उपाय किया जाय॥ ८॥ मुनीश्वर नारदजी बोले—हे हिमवान्! सुनो विधाताने जो ललाट-(मस्तक-) पर लिख दिया है, उसे देवता, दैत्य, मनुष्य, नाग और मुनि कोई भी मेटनेवाला नहीं है (अर्थात् कोई भी मिटा नहीं सकता)॥ ६८॥

टिप्पणी—१ (क) *'सोचहिं दंपति सखीं सयानी'* इति। मुनिकी वाणी सुनकर प्रथम दु:ख हुआ; यथा—*'सुनि मुनि गिरा सत्य जिय जानी। दुख दंपतिहि''''''* ' और अब 'वाणी झूठी नहीं हो सकती' यह समझकर सोचमें पड़े हैं। *'देवरिषि'* के भाव (६८। ४) में आ गये—('सत्य' जानकर दु:ख और 'झूठी न होगी, टल नहीं सकती' यह समझकर सोच है। सयानीका सोचना कहकर जनाया कि वहाँ मुग्धा, मध्या भी थीं।) (ख) *'उर धरि धीर कहै गिरिराऊ'* इति। धैर्य धारण करनेके सम्बन्धसे *'गिरिराऊ'* कहा। [(ग) 'नीति भी यही कहती है कि '**विपदि धैर्यम्**।' हिमवान्के धैर्य करनेसे यह बात सिद्ध हो गयी कि स्त्रीस्वभाव और पुत्रीका क्लेश इन दोनों बातोंसे मैनाजी घबड़ा गयीं', उन्हें कुछ नहीं सूझता। पर, पुरुष होनेसे हिमालयने उद्योगका अवलम्बन किया।' (सू० प्र० मिश्र) पुन:, हिमवान् प्रथम कह चुके हैं कि *'गति सर्वत्र तुम्हारि'* इसलिये उन्होंने विचार किया कि इन्हींसे पूछना चाहिये कि उस पुरुषको बतावें जिसमें ये सब दोष हों, पर उन दोषोंके ऊपर ऐसे गुण भी हों जिनसे वे दोष डूब गये हों। '**निमज्जतीन्दो: किरणेष्विवाङ्क:**' के ऐसा दोष कुछ भी न जान पड़े।' (सु० द्विवेदी) *'का करिय उपाऊ'* अर्थात् जिस उपायसे ऐसा वर न मिले अथवा यह दोष निवारण हो सो बताइये; यथा—*'नाथ कहिय सोइ जतन मिटै जेहि दूषनु॥'* (१२) (पार्वतीमङ्गल) एवं '**किमुपायं मुने कुर्याम्**' (शि० पु० २।३।८।१५)]

टिप्पणी—२ (क) *'जो बिधि लिखा लिलार'* इति। पूर्व कहा था कि *'परी हस्त असि रेख'* और यहाँ कहा कि *'जो बिधि लिखा लिलार।'* इसमें पाया गया कि दोनोंका अभिप्राय एक ही है। विधाता जो बात हाथमें लिखते हैं वही ललाटपर लिखते हैं। (ख) *'देवदनुजनाग'* से स्वर्ग और पातालवासी तथा *'नर मुनि'* से मर्त्यलोकवासी, इस तरह त्रैलोक्यवासियोंमेंसे कोई मिटानेवाला नहीं है, यह जनाया। (ग) (शि० पु० २।३।८) में '**कररेखा ब्रह्मलिपिर्न मृषा भवति ध्रुवम्**' है।

नोट—१ '**गहना कर्मणो गति:**', '**यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितम्**' और *'कर्म कमण्डल कर गहे'* इत्यादि

समझकर नारदने '**प्रारब्धकर्मणो भोगादेव क्षयः**'—इस सिद्धान्तसे हिमवान्‌को सन्तोष दिया। देवदानवादिको गिनाकर ग्रन्थकारने यह भी सूचित किया कि इन लोगोंकी सामर्थ्यसे तो बाहर है, पर त्रिदेव जो चाहें वह कर सकते हैं। ब्रह्माजीके पुत्र वसिष्ठके लिये ग्रन्थकारने ही लिखा है कि '*सो गुसाइँ बिधि गति जेहि छेंकी। सकइ को टारि टेक जो टेकी॥*' (अ० २५५) ब्रह्माके पुत्रमें यह शक्ति है तब ब्रह्मा, हरि और हरमें क्यों न वह सामर्थ्य हो? पुनः, '*बिधि लिखा लिलार*' इससे भी यह बात सिद्ध होती है कि औरकी तो सामर्थ्य नहीं है पर जिस ब्रह्माका लिखा है वह या उससे बड़े हरि-हरकी सामर्थ्य है कि कर्मकी रेखपर मेख ठोक सकें।'—(सु० द्विवेदी)

नोट—२ विधाता ललाटपर कर्मानुसार भावी लिख देते हैं। यथा—'*तुम्ह सन मिटिहिं कि बिधिके अंका*' (पार्वतीवाक्य) '*बिधिके अंक लिखे निज भाला*' (रावणवाक्य) तथा '*जिन्हके भाल लिखी लिपि भेरी।*' (विनय) '*कोउ न मेटनिहार*', यथा—'**तृणं वज्रायते नूनं वज्रं चैव तृणायते। बलवान् यत्नहीनः स्याद्दैवस्य गतिरीदृशी॥**' (सू० प्र० मिश्र) अर्थात् तृण वज्रतुल्य हो जाता है और वज्र तृणवत् हो जाता है; यत्नहीन भी बलवान् हो जाता है; ऐसी ही दैवकी गति है। ललाटका लेख और हाथकी रेखा एक ही बात है।

नोट—३ ऐसे ही वचन वसिष्ठजीके हैं—'*सुनहु भरत भावी प्रबल……।*' (अ० १७१) लोग इसपर शंका करते हैं कि 'जब भावी अमिट है तब शुभ मुहूर्त्त आदिका क्या महत्त्व और मङ्गलकार्योंके लिये शुभ मुहूर्त्त आदिका क्या महत्त्व और मङ्गलकार्योंको शुभ मुहूर्त्तमें करनेसे क्या लाभ?' इसका समाधान कुछ '*हरि इच्छा भावी बलवाना*' में किया गया है कि भावी मिट सकती है, वसिष्ठजी भी भावी मिटा सकते हैं तब ब्रह्मा, हरि और हरकी बात ही क्या? शिवजीके सम्बन्धमें भी कहा है—'*भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी।*' फिर भी न वसिष्ठजी वनवास रोक सके और न शंकरजी सतीजीका यज्ञमें जाकर जलना। यह क्यों? यह इसलिये कि इन भावियोंमें हरि-इच्छा भी सम्मिलित थी जिससे वे भावियाँ बहुत प्रबल थीं, वे इनकी एवं किसीके मानकी न थीं। इसीसे उन दोनों स्थलोंपर 'प्रबल' और 'बलवान्' विशेषण भी साथ ही लगा दिया गया है। 'ऐसे अपवादस्वरूप प्रसंगोंका उदाहरण देकर वेद-शास्त्रकी विधियों अर्थात् शुभ मुहूर्त्त आदिके सम्बन्धमें कोई संशय न उत्पन्न होने देना चाहिये और न यही समझना चाहिये कि ऐसे उदाहरण सामान्य, शास्त्रीय विधियोंके निषेधक हैं। सब अपने-अपने स्थानपर समयानुसार फलप्रद हैं। नारदजीने यहाँ भावीके विषयमें यह कहा तो, पर आगे उपाय भी बताते हैं; इसपर ध्यान देना चाहिये।

श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि यहाँ प्रारब्ध और पुरुषार्थके बलाबलका बड़ा ही सुन्दर विचार किया गया है। जैसा प्रारब्ध है वैसा होकर रहेगा, इसमें संदेहको स्थान नहीं है, फिर भी पुरुषार्थको एकबारगी कोई स्थान न हो यह बात भी नहीं है। प्रारब्धको हस्तरेखा ज्योतिष आदि शास्त्रोंसे निश्चित करके ऐसा उपाय (पुरुषार्थ) करे जो प्रारब्धके अनुकूल हो, प्रारब्ध उसका साथ दे सके। पुरुषार्थ ऐसा होना चाहिये कि प्रारब्धकी घटना ज्यों-की-त्यों घटने दे, पर सुख-दुःखके तारतम्यमें भेद पड़ जाय। प्रारब्धके प्रतिकूल पुरुषार्थ करना व्यर्थ है। अतः एक उपाय नारदजी बतलाते हैं, पर उसका सिद्ध होना प्रारब्धके साथ देनेपर निर्भर है। वर तो उमाको वैसा ही मिलेगा, यह प्रारब्ध अमिट है, पर वैसा वर मिलनेसे उमाके दुःखका पारावार नहीं, अब पुरुषार्थ यह करना है कि ऐसा वर खोजा जाय जिसमें ये सब बातें हों पर उमाको दुःखद न होकर सुखकारी हो।

नोट—४ '*देव दनुज*'—दोहा ७ '*देव दनुज नर नाग……।*' में देखिये। नागोंके विषयमें नाभास्वामीने भक्तमाल छप्पय २७ में इनका परिचय यों दिया है—'*उरग अष्टकुल द्वारपाल सावधान हरिधाम थिति। इलापत्र मुख अनन्त अनन्त कीरति बिसतारत। पद्म शंकु पन प्रगट ध्यान उर ते नहिं टारत॥ अशुकम्बल वासुकी अजित आज्ञा अनुवरती। करकोटक तक्षक सुभट सेवा सिर धरती॥ आगमोक्त शिवसंहिता 'अगर' एकरस भजन रति। उरग अष्टकुल द्वारपाल सावधान हरिधाम थिति॥*'—विशेष '*किन्नर नाग सिद्ध गंधर्वा।*' (६१। १) में देखिये।

तदपि एक मैं कहौं उपाई। होइ करै जौ दैउ सहाई॥१॥
जस बरु मैं बरनेउँ तुम्ह पाहीं। मिलिहिं उमहि तस संसय नाहीं॥२॥
जे जे बर के दोष बखानें। ते सब सिव पहिं मैं अनुमानें॥३॥
जौ बिबाह संकर सन होई। दोषौ गुन सम कह सबु कोई॥४॥

अर्थ—तो भी मैं एक उपाय बताता हूँ। यदि दैव सहायता करे तो वह (सिद्ध) हो जायगा* ॥१॥ जैसा वर मैंने तुमसे वर्णन किया, वैसा उमाको अवश्य मिलेगा इसमें संदेह नहीं॥२॥ वरके जो-जो दोष बखाने (कहे) गये वे सब शिवजीमें हैं, (यह) मैंने अनुमान कर लिया है (अर्थात् मेरे विचारमें वे सब शिवजीमें हैं)॥३॥ यदि शंकरजीसे विवाह होगा तो दोषको भी सब लोग गुणोंके समान ही कहेंगे।

नोट—१ *'तदपि एक मैं कहौं उपाई……'* इति। (क) शैलराजने उपाय पूछा; यथा—***'कहहु नाथ का करिअ उपाई।'*** अतः नारदजी उपाय कहते हैं। यहाँ शिक्षा देते हैं कि प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनों ही मनुष्यका कर्त्तव्य है। प्रारब्ध जानकर भी पुरुषार्थसे न चूकना चाहिये। कर्म और करतूत दोनों चाहिये। (पं० रा० कु०) ☞स्मरण रहे कि हस्तरेखाएँ भी ब्रह्मलिपि ही हैं। इनसे भाग्यका निर्णय होता है। पर मनुष्यके पाप, पुण्य, संग, कुसंग, भगवन्निन्दा, भगवत्-भजन आदिसे हस्त-रेखाएँ बदलती, मिटती, नयी उत्पन्न होती रहती हैं। शरीरपर तिल आदि जो लक्षण होते हैं उनका भी यही हाल है। ज्योतिष-शास्त्रका भी यही मत है और नित्य अनुभवमें भी आता है। अतएव मनुष्यका कर्त्तव्य है कि वह मङ्गल-कल्याणके लिये पुरुषार्थ करनेसे कभी न चूके। (ख) ***'होइ करै जौ दैउ सहाई।'*** इति। **'दैवं दिष्टं भागधेयम्'** अमरकोशके इस वचनसे **'दैउ'** (दैव) का अर्थ 'भाग्य' होगा। इस कथनमें भाव यह है कि यद्यपि विधिका लिखा मिट नहीं सकता, तथापि एक उपायसे कार्य सिद्ध हो सकता है, भावी मिट सकती है, वह उपाय करो, पर साथ ही ईश्वरका भरोसा रखो। ***'जौ'*** का भाव यह है कि उपाय करना कर्त्तव्य है, फल भगवान्के हाथ है॥ (८३।१) भी देखिये।

सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि—'दैवसे किसीकी नहीं चलती। प्रमाण ब्रह्मवैवर्तपुराण गणेशखण्ड, यथा—'**दैवाधीनं जगत्सर्वं जन्मकर्मशुभाशुभम्। संयोगाश्च वियोगाश्च न च दैवात्परं बलम्॥ कृष्णायत्तं च तद्दैवं स दैवात्परतस्ततः। भजन्ति सततं सन्तः परमात्मानमीश्वरम्॥ दैवं वर्द्धयितुं शक्तः क्षयं कर्त्तुं स्वलीलया। न दैववद्धस्तद्भक्तश्चाविनाशी च निर्गुणः॥**' अर्थात् जगत्का जन्म, कर्म, योग-वियोग सब दैवाधीन हैं। वह दैव भगवान्के अधीन है। भगवान् दैवके बढ़ाने-घटानेमें समर्थ हैं, इसीसे संत भगवान्का भजन करते हैं। भगवान् और उनके भक्त दैवके अधीन नहीं हैं। अतएव ***'करै जौं दैउ सहाई'*** कहा। *'दैउ'*=भाग्य। लक्षणासे भाग्य बनानेवाले ब्रह्माका ग्रहण करनेसे पीछेकी बात सिद्ध हुई कि जो ब्रह्मा सहायता करें तो इस उपायसे काम हो जाय।' (मा० प०)

* दैव-पुरुषार्थवाद *

'बिना बीजके कोई चीज पैदा नहीं होती। बीजसे ही बीज पैदा होता है और बीजसे ही फल होता है। जैसा बीज बोया जाता है वैसा ही फल मिलता है। जैसा कर्म किया जाता है वैसा ही फल प्राप्त होता है। जैसे खेतमें बीज बोये बिना फल नहीं होता वैसे ही प्रारब्ध भी पुरुषार्थ बिना काम

* अर्थान्तर—कार्य होगा। यदि वह उपाय करो और दैव भी सहायता करेगा।', 'करै जौ दैउ सहाई' ये शब्द शिवपुराणमें नहीं हैं। उसके शब्द हैं—'तत्रोपायं शृणु प्रीत्या यं कृत्वा लप्स्यसे सुखम्।' (२।३।८।१८)' हाँ, यदि ऐसा अर्थ करें कि—'यदि यह उपाय करे तो दैव सहाय होगा' तो श्लोकका भावार्थ इससे मिल जायगा। दैव सहाय होगा अर्थात् उसके करनेसे सुख होगा।'

नहीं देता। कर्मकर्ता अपने शुभाशुभ कर्मका फल स्वयं भोगता है, यह संसारमें प्रत्यक्ष दिखायी देता है। पुरुषार्थी सर्वत्र सम्मान पाता है।'……पुरुषार्थ करनेपर दैवके अनुसार फल मिलता है, किन्तु चुपचाप बैठे रहनेपर दैव किसीको कोई फल नहीं दे सकता। जैसे आगकी एक चिनगारी भी हवाके सहारेसे प्रज्वलित होकर महान् रूप धारण करती है। उसी प्रकार दैव भी पुरुषार्थकी सहायतासे बड़ा हो जाता है। जगत्में उद्योगहीन पुरुष फूलता-फलता नहीं दिखायी देता। दैवमें इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह कुमार्गमें पड़े हुए पुरुषको सन्मार्गपर पहुँचा दे। जैसे शिष्य गुरुको आगे करके चलता है, वैसे ही दैव पुरुषार्थका ही अनुसरण करता है। संचित किया हुआ पुरुषार्थ ही दैवको जहाँ चाहता है ले जाता है। पुरुषार्थका महान् फल है।' (ब्रह्मा-वसिष्ठ-संवाद। अनुशासनपर्व) कृपाचार्य भी कहते हैं कि 'अकेले दैव या पुरुषार्थसे कार्यसिद्धि नहीं होती। सफलताके लिये दोनोंका सहयोग आवश्यक है। [यथा—'**यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत्। तथा पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति॥**' (सुभाषित) अर्थात् जैसे एक चाकसे रथ नहीं चल सकता, वैसे ही उद्योगके बिना दैव सिद्ध नहीं होता।] संसारमें कोई भी कार्य प्रायः निष्फल नहीं देखा जाता। इसलिये बुद्धिमान् लोग दैवके अनुकूल न होनेपर भी कार्य करते हैं। परंतु कर्म न करनेपर तो दुःख ही दिखायी देता है। ……जो पुरुष दैव और पुरुषार्थ दोनोंके सहयोगको न मानकर केवल दैव या पुरुषार्थके ही भरोसे पड़ा रहता है वह अपना अनर्थ ही करता है—यह बुद्धिमानोंका निश्चय है। कई बार उद्योग करनेपर भी जो फल नहीं मिलता, उसमें पुरुषार्थकी न्यूनता और दैव—ये दो कारण हैं। परन्तु पुरुषार्थ न करनेपर तो कोई कार्य सिद्ध हो ही नहीं सकता—इसी भावसे यहाँ ***'करै होइ जौ दैउ सहाई'*** कहा।

नोट—२ (क) ***'मिलिहि'*** का ***'हि'*** निश्चयवाचक है। ***पाहीं***=से। ***'जस बरु मैं बरनेउँ'*** अर्थात् हमने जो लक्षण वरके बताये हैं उन्हीं लक्षणोंवाला वर। (ख) ***'जे जे बर के दोष बखाने। ते सब……'*** इति। भाव यह कि मैंने लक्षणोंका नियम किया कि अमुक लक्षण होंगे, व्यक्तिका नियम नहीं किया कि अमुक प्राणी इसका पति होगा। व्यक्तिका नियम नहीं है कि जो हम बताते हैं यही वर होगा—यह सूचित करनेके लिये कहते हैं कि यह दोष हमने शिवजीमें अनुमान किये हैं। (पं० रा० कु०) यदि निश्चय कह दें तो माधुर्यमें उपाय और वात्सल्य अर्थात् माधुर्यभाव जाता रहेगा—यही सोचकर 'अनुमान' कहा। नारदजी जानते हैं कि शिवजीमें वे दोष दोष नहीं हैं, इसीसे कहते हैं ***'ते सब सिव पहिं मैं अनुमानें।'*** देखिये तो, आपहीने दोष कहे और आपहीने अनुमानकर वर निश्चय किया।

नोट—३ ***'दोषौ गुन सम कह सबु कोई'*** इति। भाव कि औरोंमें (जीवोंमें) तो ये लक्षण दोष ही माने जाते हैं, परंतु शिवजीमें ये लक्षण गुणके ही सदृश माने गये हैं, वे गुण ही हैं यद्यपि लौकिक दृष्टिसे दोष-से देख पड़ते हैं। यथा—***'भव अंग भूति मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी।'*** (बा० १०)। दोष गुणरूप ही हैं, यह दोहा ६७ में दिखा आये हैं। ***'कह सब कोई'*** अर्थात् यह सबका सम्मत है, कुछ एक मैं ही नहीं कहता, सभी ऐसा कहते हैं। दोषोंको गुण कहना 'लेश अलंकार' है। दोष कैसे गुण हो सकते हैं, इसपर आगे चार दृष्टान्त देते हैं—***'जो अहिसेज……।'***

नोट—४ मिलते हुए श्लोक ये हैं—'**तादृशोऽस्याः पतिः शैल भविष्यति न संशयः।**' (२-३, ८—१८) '**तादृशोऽस्ति वरः शम्भुलीलारूपधरः प्रभुः। कुलक्षणानि सर्वाणि तत्र तुल्यानि सद्गुणैः॥**' (शिवपु० १९)

जौ अहिसेज सयन हरि करहीं। बुध कछु तिन्ह कर* दोष न धरहीं॥५॥
भानु कृसानु सर्ब रस खाहीं। तिन्ह कहँ मंद कहत कोउ नाहीं॥६॥
सुभ अरु असुभ सलिल सब बहई। सुरसरि कोउ अपुनीत न कहई॥७॥
समरथ कहुँ† नहिं दोषु गोसाईं। रबि पावक सुरसरि की नाईं॥८॥

* कहँ—छ०, को० रा०। कर—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२।

† को—१७२१, १७६२, छ०। कहु—१६६१, १७०४। कहँ—को० रा०।

अर्थ—जो (मान लिया कि, अगर च) विष्णुभगवान् शेष-शय्यापर शयन करते हैं तो भी पण्डित लोग उनको कोई दोष नहीं लगाते॥ ५॥ सूर्य और अग्नि सब प्रकारके रस भक्षण करते अर्थात् खींचते हैं तो भी उनको कोई बुरा नहीं कहता॥ ६॥ गङ्गाजीमें शुभ और अशुभ सभी जल बहता है, पर उन्हें कोई (भी) अपवित्र नहीं कहता॥ ७॥ हृषीकेशभगवान्, सूर्य, अग्नि और गङ्गाजीकी तरह समर्थको (कहीं) दोष नहीं (लगता)॥ ८॥

टिप्पणी—१ ***'जौं अहिसेज सयन हरि करहीं।'......'*** इति। (क) भाव यह कि संसारमें दोषसे कोई भी बचा नहीं है। दोष भगवान्तकमें है। शेषनागकी शय्यापर सोना भी दोष माना जाता है; पर बुद्धिमान्का प्रमाण माना जाता है, जो बुद्धिहीन हैं उनकी बात प्रमाण नहीं मानी जाती। ***'अबुध'*** (बुद्धिहीन) दोष लगाते हैं, पर बुद्धिमान् पण्डित भगवान्पर दोषारोपण न करके उनकी प्रशंसा ही करते हैं; यथा—**'शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशम्।'**—[पण्डितजन प्रशंसा करते हैं कि लोग तो एकमुँहे सर्पको ही देखकर दूरसे भागते हैं, पर ये हजारमुँहे सर्पपर भी निर्भय रहते हैं, उसे वशमें किये हैं। वह नित्य आपका कीर्तन करता रहता है, इत्यादि। (मा० प०) नारायणके सोनेसे वह भी गुण हो गया।]

नोट —१ ***'भानु कृसानु सर्ब रस खाहीं।'......'*** इति। अर्थात् मल, मूत्र आदिके रसको भी अपनी किरणोंसे खींच लेते हैं और गङ्गा, यमुना, सरस्वती, सरयू, सागर आदिका पवित्र जल भी खींचते हैं। बुरी-भलीका विचार कुछ नहीं करते। बुरी-भलीका विचार जो नहीं करता उसे साधारणतः लोग 'मन्दबुद्धि' कहते हैं, पर सूर्यको कोई दोष न देकर उलटे यही कहते हैं कि उनकी सबपर समान दृष्टि है। सब उनकी स्तुति करते हैं; यथा—**'भास्वते सर्वभक्षाय रौद्राय वपुषे नमः'**, **'ते नमः उक्तिं विधेय'**। (वि० त्रि०) यह भाव ***'तिन्ह कहँ मंद कहत'......'*** का हुआ।

नोट—२ ***'सुरसरि कोउ अपुनीत न कहई'*** इति। भाव कि गङ्गाजीका यह कर्म अपुनीत हो रहा है। उसमें सब मैला गिरता और बहता है, उसमें सरयू, यमुना, सरस्वतीका शुभ जल भी मिलता और कर्मनाशाका अशुभ जल भी, पर उनमें अपुनीतता कोई नहीं मानता, कहता। अपना शरीर अपवित्र होनेपर लोग उसे उसी जलके पानसे पवित्र करते हैं। इन सबोंको दोष क्यों नहीं दिया जाता? उनको अपवित्र क्यों नहीं माना जाता?—इसका कारण आगे बताते हैं—***'समरथ कहुँ नहिं दोषु'।*** अर्थात् ये समर्थ हैं।

नोट—३ ***'समरथ कहुँ नहिं दोषु गोसाईं।'......'*** इति। समर्थको दोष नहीं लगता, क्योंकि उसमें उस दोषके पचा डालनेकी शक्ति है। समर्थ दोषोंको पचा डालता है। उसमें दोष भी विकार न उत्पन्न कर 'गुण' का रूप धारण कर लेते हैं। सूर्य सबका रस लेते हैं पर वह रस बड़ा ही गुणकारी वर्षाजलरूप हो जाता है। अग्निमें विष्ठा आदि भी जलकर ओषधि बन जाती हैं। सुरसरिमें मैले नालोंका जल मिलते ही उसके सब कीड़े मर जाते हैं और वही जल गङ्गाजलके समान गुणद हो जाता है। कर्मनाशाका भी जल उसमें पड़ते ही सुकृतरूप हो जाता है। भाव यह कि जैसे इनको कोई दोष नहीं लगता, वरंच वे दोष भी उनमें गुणरूप हो जाते हैं, वैसे ही शिवजी समर्थ हैं। ये दोष भी उनमें गुणरूप ही हैं। इस कथनका अभिप्राय यह है कि शङ्करजी भी समर्थ हैं, जैसे हरि, भानु, कृशानु और सुरसरि समर्थ हैं। अतः उनमें भी दोष गुणरूप ही हैं।

'समरथ कहुँ नहिं दोषु गोसाईं।......' इति।

बाबा हरीदासजी अर्थ करते हैं कि—'समर्थको सर्वरसभोगसे दोष नहीं लगता, क्योंकि वे ***'गोसाईं'*** हैं अर्थात् इन्द्रियाधीन नहीं हैं। जैसे रवि, पावक और सुरसरि।' (शीलावृत्ति) और सुधाकर द्विवेदीजी ***'गोसाईं'*** का अर्थ ***'गो*** (पृथ्वीके) ***साईं'*** (=धारण करनेवाले) अर्थात् 'भूधर' करते हैं। इस तरह उसे सम्बोधन मानते हैं।

बैजनाथजी ***'गोसाईं'*** को गिरिराजका सम्बोधन मानते हैं। फिर दूसरा अर्थ यह करते हैं कि ***'साईं'***=ईश्वर। उसके ***'गो'*** अर्थात् इन्द्रियाँ हैं। रवि प्रभुके नेत्र, अग्नि मुख, गङ्गा चरणामृत हैं—उनकी (ईश्वरकी इन

इन्द्रियोंकी) नाईं तथा शिवजी प्रभुका अहंकार हैं, इत्यादि समर्थ हैं। इससे उनमें भगवान् भास्करका प्रकाश होनेसे दोषरूपी तमकी वहाँ गति नहीं है।' तात्पर्य कि रवि, पावक और सुरसरि भगवान्‌के अंग हैं, इनमें भगवान्‌का प्रकाश है, भगवान् समर्थ हैं, उनके सम्बन्धसे ये भी समर्थ हैं।

श्रीकरुणासिन्धुजी लिखते हैं कि 'यहाँ दिखाते हैं कि जिनमें ईश्वरतत्त्व है, वे ही समर्थ हैं। उनको दोष नहीं लगता, वरंच उनके संयोगसे दूषण भी भूषण हो जाता है।'

☞*'जौं अहिसेज सयन हरि करहीं', 'भानु कृसानु सर्ब रस खाहीं'* और *'सुरसरि कोउ अपुनीत न कहई'*—यहाँतक चार समर्थ गिनाये—'हरि, भानु, कृसानु और सुरसरि। इनमेंसे 'हरि' स्वयं भगवान् ही हैं, अतः स्वयं समर्थ हैं और भानु, कृशानु तथा सुरसरि क्रमसे भगवान्‌के नेत्र, मुख और चरणोदक होनेसे भगवान्‌के सम्बन्धसे समर्थ हैं। पहले व्यष्टिरूपसे चार कहे, अब इन्हींको 'समर्थ' कहकर इस अर्धालीमें एकत्र करके कहते हैं। 'रवि' (भानु), 'पावक' (कृशानु) और 'सुरसरि'—ये तीन नाम तो स्पष्ट ज्यों-के-त्यों वही हैं। चौथा नाम भी यहाँ अवश्य ही होना चाहिये। जैसे ऊपर 'हरि, भानु, कृशानु और सुरसरि' क्रमसे आये हैं, ठीक उसी क्रमसे 'गोसाईं, रबि, पावक और सुरसरि' इस अर्धालीमें हैं। इस तरह यहाँका 'गोसाईं' शब्द 'हरि' का वाचक माना जायगा। 'गोसाईं' शब्द यहाँ सम्बोधन नहीं है। नारदजीका शैलराजको 'गोसाईं' कहना यहाँ प्रसंगानुसार किसी प्रकार न तो उचित ही है और न संगत ही। यह भी स्मरण रहे कि इस प्रसंगमें जहाँ-जहाँ सम्बोधन हुआ है वहाँ-वहाँ '**सैल**', '**हिमवंत**' और '**गिरीस**' ही कहा है, यथा—*'सैल सुलच्छन सुता तुम्हारी', 'कह मुनीस हिमवंत सुनु……', 'होइहि यह कल्यान अब संसय तजहु गिरीस'* । यहाँ *'गोसाईं'*=इन्द्रियोंका स्वामी वा प्रेरक=हृषीकेश=हरि=गौ और पृथ्वीके पालनकर्ता=हरि, भगवान्, विष्णु।

श्रीबैजनाथदासजी, सूर्यप्रसाद मिश्रजी तथा बहुत-से टीकाकारोंने 'गोसाईं' को सम्बोधन माना है। परन्तु इस दीनकी समझमें उपर्युक्त कारणोंसे उसे सम्बोधन मानना संगत नहीं जान पड़ता। देखिये, प्रथम चार दृष्टान्त दिये गये तब उनमेंसे प्रथम एकको (आदिका ही नाम) छोड़कर केवल तीन क्यों गिनाये जायँगे? मुनि, वह भी देवर्षि, शैलराजको यहाँ 'गोसाईं' क्यों सम्बोधन करेंगे—इसका कोई प्रयोजन यहाँ समझमें नहीं आता।

यहाँ 'समरथ' उपमेय है। 'गोसाईं, रवि, पावक और सुरसरि' उपमान हैं। 'नाईं' वाचक और *'नहिं दोष'* अर्थात् निर्दोष होना धर्म है। इस तरह यहाँ 'पूर्णोपमा' अलंकार है।

नोट—४ शिवपुराणमें इस अर्धालीका प्रतिरूप मिलता है। इसके ऊपरकी तीन अर्धालियोंकी जोड़के श्लोक उसमें नहीं हैं। *'रबि पावक सुरसरि'* ये तीनों उसमें हैं। यथा—'**प्रभोर्दोषो न दुःखाय दुःखदोऽस्त्यप्रभोर्हि सः। रविपावकगङ्गानां तत्र ज्ञेया निदर्शना॥**'(२। ३। ८। २०) अर्थात् प्रभु (समर्थ) में दोष भी गुण ही होता है और अप्रभुमें गुण भी दोष होते हैं। सूर्य, अग्नि और गङ्गामें इनका प्रमाण देखना चाहिये। भागवतमें भी इस सम्बन्धमें कहा गया है। मिलान कीजिये—'**तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा। यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्।** (भा० उत्तरार्ध १०।३३। ३०-३१) इस उद्धरणमें श्रीशुकदेवजीने श्रीकृष्णसम्बन्धी शंकाके समाधानमें 'अग्नि' और 'रुद्र' दो तेजस्वियोंका उदाहरण दिया है और मानसकविने श्रीशिवसम्बन्धी शंकाके समाधानमें शेषशायी हरि, सूर्य, अग्नि और सुरसरि चार समर्थोंका उदाहरण दिया है। चौपाइयोंका *'सर्ब रस खाहीं'*। भागवतका '**सर्वभुजः**' है और यहाँका *'समरथ'* (समर्थ) भागवतका '**तेजीयसाम्**' है। ☞यहाँ चार दृष्टान्त क्यों दिये गये? इसमें भी कुछ रहस्य अवश्य है? ये प्रश्न स्वतः मनमें उठते हैं और उनके समाधानपर विचार किया जानेपर ऐसा ज्ञात होता है—वस्तुतः गुण और दोष तो मायाकृत हैं, यथा—*'हरिमायाकृत दोष गुन बिनु हरि भजन न जाहिं।'* (७। १०४) *'सुनहु तात मायाकृत गुन अरु दोष अनेक। गुन यह उभय न देखिअहिं……॥'* (७। ४१) और भगवान् मायातीत हैं अर्थात् मायिक गुण-दोषोंसे परे हैं। अतः उनके विषयमें गुण-दोषका शंका-समाधान ही उचित नहीं। परन्तु मायामोहमें फँसे हुए हमलोगोंको इतनेमात्रसे शान्ति नहीं होती कि वे ईश्वर हैं, उनमें दोष कहाँ? अतः हमलोग भगवान्‌के विषयमें भी ऐसी शंकाएँ

किये बिना रह ही नहीं सकते। यथा—'*कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।*......' (१। ११४) हम-ऐसे जीवोंके लिये ही भागवतमें परीक्षित्‌जीके द्वारा प्रश्न किया गया और उसका समाधान भी श्रीशुकदेवजीने '**तेजीयसां न दोषाय**' यही किया। इस विषयको लक्षित करके गोस्वामीजीने भी उसी प्रकारकी शंकाका समाधान करते हुए चार दृष्टान्त दिये। प्रथम 'शेषशायी हरि' का दिया। परन्तु यह दृष्टान्त केवल शास्त्रोंपर विश्वास रखनेवालोंके लिये ही हो सकता है, क्योंकि भगवान् हरि सर्वसाधारण जनताको प्रत्यक्ष देखनेमें नहीं आते, अतः दूसरा दृष्टान्त सूर्यका दिया कि सूर्यकी किरणें यद्यपि मल-मूत्रादि दूषित पदार्थोंपर भी पड़ती हैं तथापि लोग सूर्यको दूषित नहीं मानते। पर सूर्य हमलोगोंसे अत्यन्त दूर होनेसे उनके सम्बन्धमें भी बहुत तर्क-वितर्क हो सकते हैं। अतः अग्निका दृष्टान्त दिया, क्योंकि अग्नि प्रत्यक्ष है और हमारे निकट भी। यद्यपि अग्नि शुद्धाशुद्ध सभी पदार्थोंको जलाता है, तथापि लोग उसे अशुद्ध नहीं मानते। नीच-से-नीचके घरकी भी आग काममें लायी जाती है। फिर भी यह बात व्यवहारपर निर्भर रहती है। चिता आदिकी अग्नि काममें नहीं लायी जाती। अतः गङ्गाजीका दृष्टान्त दिया गया। गङ्गाजीमें कितने ही दूषित पदार्थ (गंदे नाले, नगरभरका मल-मूत्रादि, प्लेग, कालरा आदि बीमारियोंके रोगी, मुर्दे इत्यादि) मिलते वा पड़ते हैं, फिर भी गङ्गाजी और गङ्गाजल पवित्र ही माने जाते हैं। क्षणभरके लिये शास्त्रीय शुद्धताको अलग रखा जाय तो भी आजकलके विज्ञानके द्वारा डाक्टरोंने भी गङ्गाजलको अत्यन्त शुद्ध और गुणकारी सिद्ध कर दिया है। सर्वसाधारण लोगोंको भी इसका प्रत्यक्ष अनुभव है कि गङ्गाजल वर्षों घरमें रखनेपर भी उसमें कीड़े नहीं पड़ते। अन्य जल तो दो चार दिनोंहीमें बिगड़ जाता है। अतः एकके बाद एक देते हुए चार दृष्टान्त दिये, जिसमें सबको संतोष हो जाय।

प० प० प्र०—तीनों दृष्टान्त साभिप्राय हैं और उनका शिवजीके साथ अप्रकट सम्बन्ध है। जैसे—(१) हरि अहिसेजपर शयन करते हैं वैसे हर अपने शरीरपर सर्प लपेटे रहते हैं। (२) भानु, कृशानु सर्वरसभक्षी हैं वैसे ही शिवजी भाँग, धतूरा आदि मादक पदार्थोंका सेवन करते हैं। शिवजीका तृतीय नेत्र अग्निस्वरूप है ही। (३) सुरसरि शुभाशुभ सभी बहनेपर भी त्रैलोक्यपावनी हैं तब जिन शिवजीने उनको धारण किया वे नग्न अमङ्गलवेषादि होनेपर अपवित्र, अमङ्गल कैसे हो सकते हैं। जैसे हरि, रवि, अग्नि और सुरसरिको कोई दोष नहीं देता वैसे ही शिवजीको कोई दोष नहीं देता।

दो०—जौ अस* हिसिषा करहिँ नर जड़ बिबेक अभिमान।
परहिँ कलप भरि नरक महुँ जीव कि ईस समान॥ ६९॥

अर्थ—यदि मूर्ख मनुष्य अपने ज्ञानके अभिमानसे ऐसी बराबरी (स्पर्धा) करते हैं† (या करें) तो वे कल्पभर नरकमें पड़ते हैं (या पड़ेंगे)। क्या 'जीव' ईश्वरके समान हो सकता है? (कदापि नहीं)॥ ६९॥

नोट—१ '**हिसिषा**'=ईर्ष्यावश बराबरी करनेका भाव; दाँज, स्पर्धा। '*हिसिषा करहिँ*' अर्थात् ईर्ष्यावश बराबरी करनेका मन्द काम करते हैं। '*जड़*' कहनेका भाव कि सामर्थ्य तो है नहीं और करते हैं

---

* ऐसहि इसिषा करहिँ नर बिबेक अभिमान—१७२१, १७६२। अस हिसिषा करहिँ नर जड़ बिबेक अभिमान—१६६१, १७०४, छ०, को० रा०। १६६१ और रा० प० में 'करहि', 'परहि' पाठ है। अर्थ होगा कि—'मनुष्य करे तो पड़ेगा।'

† अर्थान्तर—१ 'जो नर ईर्ष्यासे ऐसा (अर्थात् दोषी) कहें, उनका 'जड़ विवेक' अर्थात् मूर्खोंके ऐसा ज्ञान है और उनका अभिमान ही है जो ऐसा कहते हैं। (सु० द्विवेदीजी)

२—'रवि, पावक और सुरसरिकी नाईं शिवजीमें जो दूषण हैं वे भूषणरूप हैं। उनको देखकर जो हिसिषा करे वह जड है जीव किसी कालमें ईशके समान नहीं। यदि कहो कि जीव तो ईश्वर-अंश अविनाशी है, जीव और ईश एक ही रूप हैं, उसपर आगे भेद कहते हैं—(बाबा हरिदास। शीलावृत्ति)। ३—'अभिमानवश जडवत् विवेक, अर्थात् जीव-ईश्वर एक ही है ऐसा विवेक कर जो नर ईश्वरकी बराबरी करें। (वै०)

बराबरीका दावा। समर्थ होते तो दोष न लगता। 'समर्थ' नहीं हैं अतएव बराबरी करनेका फल यह मिलता है कि ***'परहिं कलप भरि नरक महुँ'।*** आदिमें ***'अस हिसिषा करहिं नर'*** कहा और अन्तमें ***'जीव कि ईस समान'।*** इससे सूचित हुआ कि जड़ बुद्धिवाले मनुष्य बराबरी करते हैं और कहते हैं कि 'जीव' और ईश्वरतत्त्व एक ही है। जीव ईश्वरांश है। जैसे ईश्वरके कर्म निर्लेप हैं, वे शुभाशुभ कर्म करते हैं तो उनको वह कर्म बाधक नहीं होते और न उनको कोई दोष लगता है, वैसे ही जीव भी निर्लेप है, उसे शुभाशुभ कर्म नहीं लगते, तो फिर जो कर्म ईश्वर करता है वही कर्म हमे करनेमें क्या दोष?'

'जड़ बिबेक अभिमान' कथनका भाव यह है कि ये लोग हैं तो असमर्थ, पर ज्ञानके अभिमानसे यह मूर्खतावश ईश्वरोंके वचनोंका अनुकरण तो करते नहीं, किन्तु उनके आचरणोंके अनुकरण करनेका साहस कर बैठते हैं। वे यह नहीं जानते कि वे समर्थ अहङ्कारशून्य हैं, देहाभिमानरहित हैं, उनके शुभाशुभ कार्य स्वार्थ या अमङ्गलकी आशासे रहित होते हैं। इनको ***'जड़ बिबेक अभिमान'*** कहकर ईश्वरोंको 'निरहंकारी' जनाया।

'परहिं कलप भरि नरक महुँ' इति। यह ईश्वरोंके धर्मव्यतिक्रम कर्मों वा चरितोंके अनुकरण करनेका साहस करनेवालोंको कर्मके फलकी प्राप्ति कही। भाव यह कि अनीश्वरोंको मनसे भी कभी ईश्वरोंके ऐसे कर्मोंके अनुकरणकी स्पर्धा न करनी चाहिये। यथा—'**नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।**' (भा० उ० १०।३३।३१) '**अनुष्ठितं तु यद्देवैर्मुनिभिर्यदनुष्ठितम्। नानुष्ठेयं मनुष्यैस्तत्तदुक्तं कर्म चाचरेत्॥**' (हारीतस्मृति) अर्थात् देवताओं और महर्षियोंने जो आचरण किये हैं, मनुष्योंको उनका अनुकरण न करके उनके वचनोंका ही अनुकरण करना चाहिये।

* जीव कि ईस समान। इति *

'जीव' का अर्थ है—जीव (जीवात्मा); मनुष्य, प्राणी; अनीश्वर। यथा—*'माया बस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान।'* (७। ११) *'ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥ सो मायाबस भयउ गोसाईं।'* (७। ११७) *'ते जड़ जीव निजात्मक घाती। जिन्हहिं न रघुपति कथा सोहाती।'* (७। ५३) *'अस को जीव जंतु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं।'* (२। १६२) *'जीव जंतु जे गगन उड़ाहीं। जल बिलोकि तिन्ह कै परिछाहीं।'* (५। ३) *'ईस अनीसहि अंतरु तैसे।'* (१। ७०) *'ईस अधीन जीव गति जानी।'* (२। २६३)—ये वचन श्रीरामजीने भरतजीसे कहे हैं। इसमें ईशका अर्थ ईश्वर है और जीवका अर्थ 'जीव' एवं प्राणी है। प्रथम अर्थको लेकर ***'जीव कि ईस समान'*** का भावार्थ इस प्रकार है कि—जीव ईश्वरके समान नहीं है, यद्यपि वह ईश्वरका अंश है। जीव मायाके वश होकर काम-क्रोध-लोभ-मोहादिमें पड़कर मलिन हो जाता है, और ईश्वर तो मायाका स्वामी है, माया उससे डरती रहती है। यथा—***'देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी॥ देखा जीव नचावै जाही।'*** (बा० २०२) नारदजीने अपना यह सिद्धान्त हिमवान्‌से कहा कि जीव—प्राणी कभी भी ईश्वरके समान नहीं हो सकता। तात्पर्य कि प्राणीमें दोष गिने जाते हैं, ईश्वरमें दोष भी गुण समझा जाता है। भाव कि शिवजी ईश्वर हैं, उनके दोषोंपर कोई ध्यान नहीं देता।

☞ठीक इन्हीं शब्दोंमें श्रीभुशुण्डिजीने यही सिद्धान्त अपना कहा है। यथा—***'मायाबस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान।'*** (उ० १११) भुशुण्डिजीने जीव-ईश्वरकी समानता न होनेका कारण भी बता दिया है कि वह ***'मायाबस परिछिन्न जड़'*** है। दोनों जगह वही शब्द हैं—*'जीव कि ईस समान।'* अतएव दोनोंका भाव भी एक जनाया गया है। 'ईस' एवं 'ईश्वर' श्रीशिवजी और भगवान् वा श्रीरामजी दोनोंके ही लिये इस ग्रन्थमें आया है। यथा—***'भयउ ईस मन छोभु बिसेषी।'*** (१।८७) '**नमामीशमीशान**' (७। १०८) ***'सबइ लाभ जग जीव कहँ भए ईसु अनुकूल।'*** (१। ३४१) ***'ईस अनेक करवरें टारीं'।*** (१। ३५७) ***'जेहि जेहि जोनि करम बस भ्रमहीं। तहँ तहँ ईसु देउ यह हमहीं।'*** (२। २४) ***'अब ईस आधीन जगु काहु***

न देइअ दोषु।' (२। २४४) *'मुधा बचन नहिं ईश्वर कहई।'* (७। ९४) (शिवजी), *'ईश्वर राखा धरम हमारा।'* (१। १७४) (भगवान्), *'ईश्वर अंस जीव अबिनासी।'*

गोस्वामीजीने शिवजीको जगदीश, ईश्वर, *'सिद्धसनकादि-जोगीद्र-वृंदारका विष्णु-बिधि वंद्य चरणारविंद'।* (विनय० पद १२) और ब्रह्म कहा है। पुराणों और उनमें भी वैष्णवपुराण श्रीमद्भागवतमें उनको ईश्वर कहा है और त्रिदेवमें अभेद बताया है। यथा—**'त्वमेव भगवन्नेतच्छिवशक्त्योः सरूपयोः। विश्वं सृजसि पास्यत्सि क्रीडन्नूर्णपटो यथा॥'** (भा० ४।६।४३) **'जाने त्वामीशं विश्वस्य जगतो योनिबीजयोः। शक्तेः शिवस्य च परं यत्तद्ब्रह्म निरन्तरम्॥'** (४।६।४२)—ब्रह्माजी कहते हैं 'हे ईश! 'मैं आपको जानता हूँ। आप शक्ति और शिव, अर्थात् प्रकृति और पुरुष, दोनोंसे परे सनातन ब्रह्म हैं। जैसे मकड़ी स्वयं ही जालेको रचकर उसमें क्रीड़ा करती और अन्तमें उसे अपनेहीमें लीन कर लेती है, वैसे ही आप अपने ही स्वरूप पुरुष और प्रकृतिसे संसारकी रचना, पालन और संहार करते हैं। पुनः यथा—'**अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्। आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृगविशेषणः॥**' (भा० ४। ७। ५०) **आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज। सृजन् रक्षन्हरन्विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम्॥**' (४। ७। ५१) भगवान् कहते हैं कि मैं ही ब्रह्मा और शिव हूँ; मैं ही संसारकी रचना, पालन और संहारके लिये ब्रह्मा, विष्णु और शिव—ये तीन नाम धारण करता हूँ। शिवपरक उपनिषदों (श्वेताश्वतर, रुद्र आदि) में भी शिवजीको ब्रह्म कहा गया है। मानसमें भी भगवान् शङ्करको भगवान्का अहङ्काररूप कहा गया है; यथा—*'अहंकार सिव बुद्धि अज।'* (६। १५) वैष्णवाचार्य श्रीवल्लभाचार्यजी, श्रीमाध्वाचार्यजी तथा महाप्रभु कृष्णचैतन्यजीने भी शङ्करजीको 'ईश्वर' माना है। ☞इस प्रकार भगवान् शंकर 'ईश्वर' हैं। और दोहेमें 'जीव ईश्वरके समान नहीं हो सकता' यह सिद्धान्त कहा गया है।

जो जीवका ही ईश्वर (ब्रह्म) हो जाना मानते हैं उन्हें इस दोहेमें कड़ी फटकार है कि समानता तो दूर रही, उसकी समानताकी कामनामात्रसे विनाश होता है।

प्र० स्वामी लिखते हैं कि 'केवलाद्वैतमें भी जीवको ईश्वरसमान होना कहीं नहीं कहा गया है। जीव अपने सहज स्वरूपमें लीन हो सकता है, पर ईश्वर नहीं हो सकता। ईश्वर सोपाधिक ब्रह्म है। जीवकी उपाधि अविद्या है। अविद्यासे मुक्त होनेपर जीव ब्रह्मस्वरूपकी उपलब्धि कर सकता है। पर ईश्वरकी उपाधि विद्या माया है, ईश्वर 'मायापति,' 'मायाप्रेरक सीव' है। जीव मायामुक्त होनेपर भी मायापति, मायाप्रेरक हो ही नहीं सकता। इस तरह केवलाद्वैतके अनुसार भी ईश्वर और जीवमें उपाधिभेदसे भेद है, पर उपाधि-त्यागसे भेद नहीं है। अतएव यह वचन केवलाद्वैतको भी कोई जटिल समस्या नहीं है।

विशिष्टाद्वैतसम्प्रदायवाले भगवान् शङ्करको भी 'जीव' मानते हैं। ब्रह्मके अतिरिक्त जितने भी प्राणी हैं, वे सब 'जीव' हैं। अतएव विशिष्टाद्वैतमतानुयायी 'जीव' का दूसरा साधारण अर्थ 'प्राणी' या 'मनुष्य' लेते हैं। इस अर्थकी पुष्टि पूर्वार्धके 'नर' और *'जड़ बिबेक अभिमान'* से होती है। जिसे पूर्वार्धमें *'नर'* कहा उसीको उत्तरार्धमें *'जीव'* कहा। अतः *जीव*=नर। ईशका अर्थ समर्थ और शङ्कर भी है। इस तरह उत्तरार्धका भावार्थ यह होता है कि *'नर'* (मनुष्य) ईश्वर (शङ्करजी) के समान कैसे हो सकता है? विशिष्टाद्वैतमतके अनुसार मेरी समझमें अधिक उत्तम अर्थ होगा कि—'क्या अनीश्वर प्राणी समर्थ तेजस्वी पुरुषोंके समान हो सकता है?'

नोट—२ ऐसी ही शंका श्रीपरीक्षित्जीने श्रीशुकदेवजीसे श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्ध 'उत्तरार्ध अ० ३३ में भगवान् श्रीकृष्णजीके सम्बन्धमें की है। यथा—'**संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च। अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः॥ स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्ताऽभिरक्षिता। प्रतीपमाचरद्ब्रह्मन्परदाराभिमर्शनम्॥**……' (२७-२८) अर्थात् भगवान्ने धर्मसंस्थापनार्थ एवं अधर्मविनाशनार्थ अवतार लिया तब धर्ममर्यादाके वक्ता, रचयिता और रक्षक होकर भी उन्होंने परस्त्रीगमनरूप विरुद्ध आचरण क्यों किये?

श्रीशुकदेवजीने इसका समाधान यों किया है—'**धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्। तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥ नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः। विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं**

विषम्॥' (३०-३१) अर्थात् ईश्वरों (समर्थ वा तेजस्वी पुरुषों) द्वारा कहीं-कहीं धर्मके व्यतिक्रम (उल्लङ्घन) में साहस देखा जाता है। किन्तु उन अकार्योंसे तेजस्वी पुरुषोंको कोई दोष नहीं होता, जैसे शुद्धाशुद्ध सभी कुछ भक्षण करनेवाला अग्नि उन शुभाशुभ पदार्थोंके गुण-दोषके कारण दूषित नहीं होता। जो अनीश्वर हैं (समर्थ नहीं हैं) वे ईश्वरोंके ऐसे आचरणोंके अनुकरणका कभी मनमें संकल्प भी न करें। यदि मूर्खतावश कोई वैसा आचरण करता है तो उसका विनाश हो जायगा। जैसे समुद्रसे निकले हुए कालकूटको भगवान् शंकरने पी लिया तो उनका कुछ न बिगड़ा, किन्तु यदि कोई उनका अनुकरण करके विष-पान करे तो अवश्य ही नष्ट हो जायगा। इसके पश्चात् श्रीशुकदेवजीने ईश्वरों, तेजस्वियोंको दोष न लगनेका कारण बताया है और हम-ऐसे जीवोंके कर्तव्यका उपदेश दिया है। सूक्ष्म प्रकारसे वह यह है—अहंकारहीन देहाभिमानशून्य समर्थ पुरुषोंका शुभ कर्म करनेमें स्वार्थ नहीं रहता और अशुभ कर्मसे उनका अनर्थ नहीं होता। अर्थात् वे न तो शुभ कर्मोंसे कोई मङ्गलकी कामना रखते हैं और न अशुभ कर्मोंसे उन्हें अमङ्गलकी आशा रहती है। जब ईश्वरोंको ही शुभाशुभ कर्मोंसे कोई हानि-लाभ नहीं होता तो तिर्यक्, मनुष्य और देवता आदि समस्त शासित जीवोंके एकमात्र प्रभु सर्वेश्वरका किसी शुभ या अशुभसे क्योंकर संसर्ग हो सकता है? जिनके चरणकमलरजके सेवनसे तृप्त भक्तजन और योगके प्रभावसे सम्पूर्ण कर्मबन्धनोंसे मुक्त मुनिजन (सब प्रकारके विधिनिषेधरूप बन्धनोंसे छूटकर) स्वच्छन्द विचरते हैं, उन स्वेच्छाशरीरधारी (परमेश्वर) को कर्मका बन्धन कैसे हो सकता है? यथा—'**कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते। विपर्ययेण वानर्थो निरहंकारिणां प्रभो॥ किमुताखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम्। ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः॥ यत्पादपंकजपरागनिषेवतृप्ता योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः। स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमानास्तस्येच्छयाऽऽत्तवपुषः कुत एव बन्धः॥** (३३—३५) आदेश यह किया है कि—ईश्वरोंके वचन सत्य होते हैं (अर्थात् हमें उनके वचनोंके अनुकूल चलना चाहिये) और कहीं-कहीं उनके आचरण अनुकरणीय होते हैं किन्तु सब नहीं। अतः उनके जो आचरण उनके वचनों (उपदेशों) के अनुकूल हों, बुद्धिमान् पुरुषोंको उन्हींका अनुकरण करना चाहिये। यथा—'**ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्। तेषां यत्स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत्समाचरेत्॥**' (भा० १०।३३।३२)

'*समरथ कहुँ नहिं दोषु गोसाईं।'.....'जीव कि ईस समान।'* में भागवतके उपर्युक्त उद्धरणोंका सभी भाव और उपदेश भरा हुआ है।

उपर्युक्त उद्धरणसे मिलान करनेसे सारांश यह निकलता है कि जिसे दोहेमें 'नर' और 'जीव' कहा है, वही भागवतमें 'अनीश्वर' शब्दसे कहा गया है। दोहेका '*ईस*' भागवतका 'ईश्वर' और 'ईशित' (**'ईश्वराणाम्', 'ईशितुश्चेशितव्यानाम्'**) है। भागवतमें ईश्वरोंसे भगवान् श्रीकृष्ण; श्रीरुद्र और अग्नि आदि समर्थ सूचित किये गये हैं न कि केवल शंकरजी। इसी प्रकार इस दोहेमें भी समझना चाहिये। यहाँ एक सिद्धान्त कहा गया है।

प० प० प्र०—आगे '*सुरसरि जलकृत*.....' के दृष्टान्तसे तो केवलाद्वैतकी सिद्धि होती है। '**जले जलं वियद् व्योम्नि**' (श्रुति) के समान जीव अविद्यायुक्त होनेपर देह-त्यागके पश्चात् ब्रह्ममें लीन होता है। जबतक माया और अविद्याका सम्पर्क रहता है तबतक जीव तत्त्वतः भी ईश्वरके समान नहीं हो सकता। तत्त्वतः ईश्वर ब्रह्म ही है और जीव भी ब्रह्म है, पर अविद्यारूपी मदिराके सम्पर्कसे वह अपावन बना है और ईश्वर विद्योपाधिरूपी गङ्गाजीके समान सदा पावन ही है। अतः ईश्वरकी समानताका साहस ज्ञानाभिमानी जड़ जीव ही करेगा, कोई सुविचारवान्, गुरु-साधुसभा-सेवक शास्त्ररहस्यज्ञ मानव यह नहीं कहेगा कि जीव ईशके समान है।

वि० त्रि०—सम्पूर्ण विद्या स्नात होकर भी जीव एक तृणकी रचना नहीं कर सकता। उसकी जगत्की सृष्टि, स्थिति और लय करनेवाले ईश्वरसे कौन समता है? ईश्वरकी समताकी इच्छा होती है तो यह उसके बड़े भारी अकल्याणका कारण है। जगत्में जो दुर्दशा उसकी होती है, वह तो होगी ही। मरनेपर उसे

पूरे कल्पभर नरक भोगना पड़ेगा। जो ज्ञानाभिमानी होकर हलाहल पान करेगा वह अवश्य मरेगा और आत्मघाती होकर घोरतर नरकमें जायगा।

सुरसरि जल कृत बारुनि जाना। कबहुँ न संत करहिं तेहि पाना॥ १॥
सुरसरि मिलें सो पावन जैसें। ईस अनीसहि अंतरु तैसें॥ २॥

नोट—महात्माओंने इसका अन्वय और अर्थ दो प्रकारसे किया है। दोनों पक्षोंमें बड़े-बड़े महात्मा हैं। अतः हम यहाँ दोनोंको देते हैं। अर्थकी जाँचमें 'मिलें' के अनुस्वारकी उपयोगिता भी दर्शनीय है।

अन्वय—१ वारुणी सुरसरि-जल-कृत (है यह) जाना (तथापि) ***'संत कबहुँ तेहि पान न करहिं।' 'जैसें सो सुरसरि मिलें पावन'*** (होती है) ***'तैसें ईस अनीसहि'*** अंतर है।

अर्थ—१ वारुणी गङ्गाजलसे बनायी हुई है यह जानकर भी संत कभी भी उसे नहीं पीते॥ १॥ वही गङ्गाजीमें मिल जानेपर जैसे पवित्र हो जाती है, ईश्वर और अनीश्वरमें वैसा ही भेद है॥ २॥

अन्वय २—***'सुरसरि कृत जल बारुनि जाना। संत तेहि कबहुँ न पान करहिं।.....'***

अर्थ—२ गङ्गाजीका किया हुआ जल (अर्थात् गङ्गाजीका छाड़न जल) अपावन मदिरा-तुल्य जानकर संत उसे कभी नहीं पीते॥ १॥ जैसे, जो जल गङ्गाजीसे मिला हुआ है वह 'सुपावन' (सुष्ठु पावन) है, वैसे ही ईश (शिवजी) और अनीश्वर (जीव) में अन्तर है। (संत उन्मनीटीका, नंगे परमहंसजी)

नोट—१ नंगे परमहंसजी और पाण्डेजीने 'सुपावन' पाठ दिया है; पर मानस-अभिप्रायदीपकमें 'सो पावन' पाठ ही है।

नोट—२ सबसे प्राचीन टीकाकार श्रीकरुणासिन्धुजी (अयोध्या), पं० शिवलाल पाठक (काशी) और श्रीसंतसिंहजी पंजाबी (अमृतसर) हैं; जिन्होंने संवत् १८७८ वि० में टीकाएँ लिखीं। ये प्रथम अर्थके पक्षमें हैं। इन्हीं टीकाओंके साथ पं० सुधाकर द्विवेदी, बाबा हरिदास, बैजनाथदासजी, पं० सूर्यप्रसाद मिश्र, श्रीजानकीशरण स्नेहलताजी आदिने अपने शब्दोंमें दिये हैं। दूसरे अर्थके पक्षमें संत श्रीगुरुसहायलाल सन्त उन्मनीटीकाकार और श्रीअवधबिहारीदासजी, नंगे परमहंसजी हैं। नंगे परमहंसजी प्रथम अर्थको बहुत दलीलोंसे दूषित ठहराते हैं। पहले हम श्रीनंगे परमहंसजीके लेखके आवश्यक अंशको यहाँ देते हैं, फिर प्रथम अर्थके पक्षमें जो लोगोंने कहा है वह देंगे।

* अर्थ २ की पुष्टिमें श्रीनंगे परमहंसजीका कथन *

(क)—जैसे [***'सुरसरि मिलें'*** जल (=जो जल गङ्गाजीसे मिला हुआ है) और ***'सुरसरि कृत जल'*** (=गङ्गाजीका किया हुआ जल=छाड़न)] इन दो जलोंमें अन्तर है, एक पावन है, दूसरा अपावन और जल-तत्त्व एक है (अर्थात् यद्यपि दोनों जल तत्त्वतः एक ही हैं); वैसे ही ईश शिवजी और अनीश मनुष्यमें अन्तर है, यद्यपि दोनोंमें जीवतत्त्व एक है।

(ख) यहाँ गङ्गाजी ब्रह्म, छाड़न ब्रह्मसे पृथक् हुआ जीव और धारासे मिला हुआ जल शिवजी हुए। ब्रह्मसे पृथक् होनेसे जीव अपावन हो जाता है, जैसे गङ्गाजीने जिस जलको छोड़ दिया है अर्थात् जो धारासे अलग हो गया है वह शास्त्रप्रमाणसे अपावन है; [यथा—'**गङ्गाया निस्सृतं तोयं पुनर्गङ्गां न गच्छति। तत्तोयं मदिरातुल्यं पीत्वा चान्द्रायणं चरेत्॥**' परंतु यह श्लोक कहाँका है, पता नहीं। बहुत खोजनेपर भी अभीतक मिला नहीं।] पुनः, यथा—***'तुलसी रामहिं परिहरे निपट हानि सुनु ओझ। सुरसरि-उर-गत सोइ सलिल सुरा सरिस गंगोझ॥'*** (दोहावली ६८) ***'जिमि सुरसरि गत सलिल बर सुरा सरिस गंगोझ॥'*** (सतसई) शिवजी परमात्मासे मिले हुए हैं, अतः पावन हैं; जैसे धारासे मिला हुआ जल पावन है।

(ग) छाड़नको सुरसरिकृत कैसे माना जाय? उत्तर—क्योंकि छाड़न जल न तो मनुष्यकृत है और न मेघकृत, वह गङ्गाजीका ही किया हुआ है।

(घ) यदि कहो कि जैसे मिला हुआ जल पावन है वैसे ही छाड़न पुनः गङ्गाजीके मिलनेपर पावन हो जाता है; तो उत्तर यह है कि यहाँ छूटकर पुनः मिलनेकी व्यवस्थासे कोई प्रयोजन नहीं; वर्तमानमें जो दशा दो जलों (धारासे छूटे हुए और धारासे मिले हुए जलों) की है, उसीसे यहाँ मनुष्य और शिवजीकी उपमा दी गयी है, उसीसे यहाँ प्रयोजन है। क्योंकि शिवजी परमात्मासे प्रथमसे ही मिले हुए, छूटकर नहीं मिले हैं। भविष्यमें दोनों जलोंकी दशा जो भी होती रहे सो रहे, उससे यहाँ प्रयोजन नहीं है।

(ङ) अर्थ १ में ये दोष हैं—(१) गङ्गाजलसे जब मदिरा बनी हुई है तब तो वह मदिरा है ही, उसके लिये *'बारुनि जाना'* क्यों लिखा? जब वह प्रत्यक्ष ही वारुणी है तब 'जाना' क्रियाका प्रयोजन ही न था। वस्तुतः यहाँ 'जाना' शब्द देकर जनाया है कि यहाँ 'बारुनि' से वास्तविक मदिराका तात्पर्य नहीं है, किंतु छाड़न जल जो मदिराके तुल्य माना जाता है वह अभिप्रेत है। 'जाना' का भावार्थ ही यहाँ लेना होगा। *'बारुनि जाना'*=मदिरा-तुल्य माना गया है।

(२)—अर्थ १ तभी हो सकता है जब 'उत्प्रेक्षा अलंकार' की उपमा रहती है। बिना 'मानो' आदि शब्दोंके ऐसा अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता। 'क्योंकि न तो कोई गङ्गाजल लाकर मदिरा बनाता है और न कोई गङ्गाजीमें छोड़ने जाता है; तो ऐसी उसकी उपमा क्यों दी जायगी कि जो बात संसारमें होती ही नहीं। मूलग्रन्थमें प्रत्यक्ष होती हुई बातकी उपमा दी जाती है। 'जैसे' 'तैसे' शब्द प्रत्यक्ष होती हुई बातोंमें ही लिये जाते हैं। (३)—मदिराको तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों ही वर्ण निषेध और अपावन मानकर नहीं पीते तब यहाँ 'संत' का ही पान न करना क्यों लिखा? कारण स्पष्ट है कि छाड़न जलको केवल संत नहीं पीते और चारों वर्ण पीते हैं। गाजीपुरके कई ग्रामोंमें देखा जाता है कि छाड़न जल चारों वर्ण पीते हैं।

* अर्थ १ के पक्षमें महात्माओंके कथन *

करुणासिंधुजी—कोई मनुष्य थोड़ा-सा गङ्गाजल भर ले जाय और उसमें किसी वृक्षका फल, किसीका छिलका और मिठाई (जैसे कि महुआ, गुड़) आदि मिलाकर मदिरा बनावे तो उसे कोई भले आदमी पान नहीं करते। (भाव यह कि गङ्गाजल यद्यपि उसी गङ्गाका अंश है और पावन है, पर वह महुआ, गुड़ आदिके सम्बन्धसे अपावन हो जाता है, उसे सदाचारी लोग नहीं पीते। उस अल्प जलमें, उस अपावनतारूपी दोषको पचानेकी शक्ति नहीं है।)

यदि वही फल, छिलका, मिठाई हजारों मन भी गङ्गाजीमें डाल दिया जाय तो (गङ्गाजल अपवित्र नहीं होता किन्तु) यह सब भी पावन हो जाता है। (भाव यह कि गङ्गाजीमें वा धाराके जलमें कितनी ही अपावन वस्तु पड़ जानेपर भी वह गङ्गाजल अपावन नहीं होता किन्तु पावन ही माना जाता है, क्योंकि उसमें इन अपावन वस्तुओं वा दोषोंके पचानेकी शक्ति है।) वैसे ही जीव अल्पज्ञ है। वह अनादि कालसे कर्मों (वा माया) के वशमें पड़ा हुआ है, इससे वह काम, क्रोध, लोभ आदि अनेक विकारोंको धारण किये हुए है। (भाव यह कि जीव यद्यपि ईश्वरका अंश है तथापि मायावश हो जानेसे वह दूषित हो गया है। ईश्वरसे पृथक् हो जानेके कारण उसमें दोषोंके पचानेकी शक्ति नहीं रह गयी।) अतएव उन जीवोंकी संगति संतजन नहीं करते, उनका वचन नहीं पान करते। प्रत्यक्ष देखिये कि (मल, मूत्रादि) जो कुछ गङ्गाजीमें पड़ता है वह सब पावन हो जाता है; वैसे ही जो 'ईश' अनेक विकार धारण करें तो वह विकार भी निर्विकार हो जाते हैं और उन 'ईशों' को संतजन भजते हैं। वैसे ही शिवजीको जानो। (ख)—'सुरसरि का छूटा जल' यह अर्थ यहाँ नहीं है। एवं जो यह कहते हैं कि 'जो वही मद्य गङ्गाजीमें पड़े तो गङ्गा हो जाता है, वैसे ही जीव ईशको जाननेसे ईश हो जाता है'—सो यहाँ इस अर्थका प्रयोजन ही नहीं है।

पंजाबीजी—अल्पज्ञ जीव एक पापसे भी पापी हो जाता है और ईश्वर जो सर्वज्ञ है, उसमें अनेक

अनुचित कर्म भी हों तो भी वे कर्म उसे मलिन नहीं कर सकते; किन्तु स्वयं पवित्र हो जाते हैं; जैसे अनेक गोपियाँ परस्त्रियाँ श्रीकृष्णजीको कलंकित न कर सकीं, किन्तु उनके संगसे स्वयं कृतार्थ हो गयीं।

पं० रामकुमारजी—गङ्गाजलमें बनी हुई मदिरा भी पान न करनी चाहिये। यह मदिराका त्याग दिखाया। धारारूप ईश्वर अपवित्र नहीं हो सकता, पर अल्पजलरूप जीव पापसे अशुद्ध हो जाता है।

सू० प्र० मिश्र, सुधाकर द्विवेदीजी—ग्रन्थकार दोहार्थको दृष्टान्तद्वारा सिद्ध करते हैं। '**समूहे शक्तिः**' यह सिद्धान्त है। अर्थात् बहुत बड़े पदार्थमें अनेक शक्ति रहती है। समुदायमें जो शक्ति होती है वह अल्पभागमें कदापि नहीं रह सकती; जैसे गङ्गाजलमें जो शक्ति थी कि '**चान्द्रायणसहस्रेण यत्फलं स्याज्जनार्दन। ततोऽधिकं फलं गङ्गामृतपानादवाप्नुयात्॥**'(काशीखण्ड अ० २८) वह शक्ति मदिरामें अल्पजल होनेसे मादक-पदार्थ संयोगद्वारा जाती रही; इसलिये उसे गङ्गाजल न समझकर संत लोग नहीं पीते। यदि हजारों बोतल मदिरा गङ्गाजीमें डाल दी जाय तो उसकी सारी मादकता उसी क्षण नष्ट हो जायगी, गङ्गाजीका ही प्रभाव देख पड़ेगा कि वह मद्य भी उसके प्रभावसे गङ्गाजलतुल्य हो जाता है। यही व्यवस्था जीव वा मलिन प्राणी और ईश्वरकी है। मायाके अधिकांश होनेसे अल्पज्ञ जीव थोड़े पापसे नष्ट हो जाता है; अर्थात् उसपर मलिनता छा जाती है, ईश्वरांशका सारा प्रभाव जाता रहता है। ईश्वरमें कितने ही दोष क्यों न हों पर दोषद्वारा उसका कुछ भी नहीं होता। यथा—कृष्णजीको रासक्रीड़ा, नन्द-गृहप्रादुर्भाव आदि।

सू० प्र० मिश्र—मेरी समझमें 'अंतर' शब्दका अर्थ 'उपाधिकृत भेद' करना चाहिये, 'वास्तविक भेद' नहीं। यदि वास्तविक भेद कहें तो ग्रन्थकारका यह कथन सर्वथा शास्त्रविरुद्ध हो जायगा; क्योंकि शास्त्रोंमें माया और ईश्वरका भेद वर्णन है न कि जीव और ईश्वरका वास्तविक भेद है। यथा—'**प्रकृतिः पुरुषश्चेति विकल्पः पुरुषर्षभ॥**' (भा० ११। २२। २९) अर्थात् हे पुरुषश्रेष्ठ उद्धव! प्रकृति और पुरुष इन दोनोंमें अत्यन्त भेद है। यहाँ ऐसा विवेक करना चाहिये कि मदिराके स्थानमें 'जीव' और 'गङ्गा' के स्थानमें 'ईश्वर' है। जीव और ईश्वरकी पावनता और अपावनताका उल्लेख नहीं है। [इसपर वे० भू० जी लिखते हैं कि 'परंतु रामचरितमानसके—'***ईश्वर जीव भेद प्रभु सकल कहहु समुझाइ। जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥***' (३। १४) '*ईश्वर जीवहि भेद कहहु कस।'.....परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥*' (७।७८) तथा—'**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥**' [ऋग्वेद,,मण्डल १ सूत्र १६४ मन्त्र २०, अथर्ववेद, काण्ड ९ अनुवाक ५ सूक्त ९ मन्त्र २०; निघंटु-प्रकरण १४ मन्त्र ३०; एवं श्वेताश्वतरोपनिषद् अ० ४ मन्त्र ६ '**ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ**।' (श्वेताश्वतरोपनिषद् अध्याय १ मन्त्र ९)' '**बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥**' (श्वेताश्वतरोपनिषद् अ० ५ मन्त्र ९), इत्यादि श्रुतियोंसे ईश्वर और जीवका भेद बहुत स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है। अतः मानसकारका कथन शास्त्रविरुद्ध कदापि नहीं है। प्रत्युत उसका तोड़-मरोड़कर मानस-सिद्धान्तको कुचलना शास्त्रविरुद्ध है। यहाँ भेदका ही उल्लेख है।']

श्रीजानकीशरण स्नेहलताजी—दीपककारके '***मिले मधूकन्हि भे सुरा, नीर गङ्ग पर धार। गुड़ आदिक भे गङ्ग अस ईस अनीस विचार॥***' (५६) इस दोहेका भाव यह है कि—जीव यद्यपि ईश्वरांश है तो भी कामादिक विकारोंसे मिलित होकर अशुद्ध हो गया तब वह ईश्वरकी बराबरी करे तो कैसे हो सकता है? अभिप्राय यह है कि जो अवगुण जीवको रसातल भेजता है वही अवगुण पञ्चब्रह्म जो सूर्यादि हैं उनमें पड़नेसे शोभा देता है। भाव यह कि जो मदका सरंजाम घटस्थ गङ्गाजलमें पड़नेसे उसको बिगाड़नेका सामर्थ्य रखता है वही सरंजाम धारस्थ जलके बिगाड़नेको समर्थ नहीं है। इसी प्रकार जो अवगुण जीवको भ्रष्ट कर देता है, वही ब्रह्ममें पड़कर ब्रह्ममें जो गुण है उसीका रूप हो जाता है। ध्वनि यह है कि घटस्थ जल यदि धारके सदृश होना चाहे तो कैसे हो सकता है? वैसे ही अल्पज्ञ जीव सर्वज्ञके बराबर होनेकी ईर्ष्या करे तो नरकमें जायगा। मेरी समझमें अर्थ १ ही ठीक है। 'गङ्गाकी धारासे छूट जानेपर

ही 'गङ्गोझ' कहलाकर वह जल मदिरातुल्य हो जाता है'—ऐसा अर्थ २ के समर्थकोंका कथन है। इस कथनसे यह भाव निकलता है कि जीव परमात्मासे बिछुड़ते ही मदिराके तुल्य अपावन हो जाता है। परन्तु ऐसी बात है नहीं। जैसे गङ्गासे जल ले जाकर यदि विचारपूर्वक रखा जाय तो वह शुद्ध ही रहता है, उससे भगवान्‌की सेवा होती है, इत्यादि। हाँ, वह जल महुआ आदिके संसर्गसे अपावन हो जाता है, उसी प्रकार ईश्वरसे पृथक् होनेपर भी जीव विचारपूर्वक रहनेपर अर्थात् कर्म, ज्ञान, उपासनायुक्त रहनेपर परमात्माके तुल्य कहलाता है। यथा—*'भक्त भक्ति भगवंत गुरु चतुर नाम बपु एक।'* परन्तु जब वह कुसंगमें पड़ जाता है तब बद्ध, विषयी, दुष्ट और पापात्मा कहलाता है, उस जीवको अपावन जान संतजन ग्रहण नहीं करते। यहाँ तात्पर्य केवल यही है कि जीव ईश्वरसे पृथक् होनेपर उसका अंश होनेपर भी ईश्वरके सदृश नहीं हो सकता।'

वि० त्रि०—जैसे गङ्गाको मद्यमें परिणत करनेका सामर्थ्य किसीको नहीं है, वैसे ही ईश्वर दोषी हो नहीं सकता। थोड़ा-सा गङ्गाजल लेकर यदि मद्य बनाया जाय तो वह मद्य है, गङ्गाजल नहीं। कोई हठी भले ही कहे कि गङ्गाजल सदा गङ्गाजल ही रहेगा, पर कोई संत उसे ग्रहण नहीं करेगा। इसी भाँति जीव ईश्वर-अंश होनेपर भी ईश्वरसे पृथक् होनेपर अनीश्वर हो जाता है। मायावश होकर दोषयुक्त हो जाता है। कोई विवेकाभिमानी भले ही कहे कि वह ईश्वरसे व्यतिरिक्त और कुछ नहीं है, दोषसे उसका संसर्ग हो नहीं सकता, पर कोई संत इसे माननेको तैयार नहीं हो सकता। वही मद्य यदि गङ्गामें छोड़ दिया जाय तो वह गङ्गाको दूषित नहीं कर सकेगा, गङ्गामें मिलकर स्वयं गङ्गा हो जायगा। वही जीव यदि मुक्त हो जाय या ईश्वरकी शरणमें चला जाय तो ईश्वरमें लय होकर तरण-तारण हो जाता है। भाव यह कि अंशमें अल्पताके कारण दोषका प्रभाव पड़ जाता है, और अंशीमें महत्ताके कारण दोषका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

कोई कहते हैं कि—(क) छाड़न-परक अर्थ अद्वैतमतमें अधिक ठीक बैठता है; क्योंकि गङ्गाजीमें और उसमें कुछ भेद होनेपर भी केवल अलग होनेसे उसको दोषी कहा गया। वही फिर गङ्गाजीमें मिलनेसे शुद्ध माना जाता है। परन्तु शब्दार्थमें 'गङ्गाजीसे अलग किया हुआ जल' ऐसा अर्थ करना होता है। इसमें 'अलग' शब्द बाहरी तथा 'कृत' शब्दको उठाकर 'सुरसरि' के साथ लगाकर अर्थ करना होता है और 'जाना' का अर्थ 'माना' करना पड़ता है। अर्थात् छाड़नपरक अर्थके लिये मूल पाठमें प्रथम 'कृत' तब 'जल', तथा 'जाना' के बदले 'माना' ठीक होता। [कवि सुगमतासे लिख सकता था—*'सुरसरि कृत जल बारुनि माना। कबहुँ न संत······'* पर उसने *'सुरसरि जल कृत बारुनि जाना'* लिखा।] *'सुरसरि मिलें सो पावन'* का अर्थ ठीक यही होगा कि—'यह छाड़न गङ्गामें मिलनेसे पवित्र होता है।' क्योंकि *'सुरसरि मिले सो'* में *'सो'* का महत्त्व है। जो गङ्गाजीसे मिला है वह तो गङ्गा ही है, उसमें शंकाका स्थान ही नहीं। छाड़नपरक अर्थकी अपेक्षा अर्थ १ ही अधिक उचित जान पड़ता है। उसमें शब्दका हेरफेर, अध्याहार (अलग) नहीं करना पड़ता।

(ख) संत=सदाचारी। ब्राह्मणादि जो दुराचारी हैं वे ही पीते हैं, शूद्रादि भी जो सदाचारी हैं वे नहीं पीते। इसीसे 'संत' कहा। तात्पर्य यह कि यहाँ ब्राह्मणादिका उल्लेख न करके 'संत' शब्द दे देनेसे छाड़न-परक ही अर्थ करना चाहिये,,यह बात नहीं कही जा सकती।

(ग) ब्रह्म व्यापक होनेसे जीव उससे कभी अलग तो है ही नहीं। गोस्वामीजीने भी यही कहा है; यथा—*'ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती।'* (१। २०) *'तैं निज कर्मजाल जहँ घेरो। श्रीहरि संग तज्यो नहिं तेरो॥'* (विनय० १३६) जैसे गङ्गाजलसे बनी हुई मदिरा गङ्गाजल होनेपर भी वह भिन्न दूषित नाम-रूप-गुणवाला होनेसे अपवित्र होता है और वही फिर गङ्गाजीमें मिलनेसे उसके दूषित नाम-रूप-गुण नष्ट हो जाते हैं और वह गङ्गाजल ही कहा जाता है, वैसे ही ईश्वरांशरूप यह जीव मायाकृत देहादि अभिमानसे भिन्न नाम-रूप-गुणवाला होकर दोषी होता है। वही इनका अभिमान छोड़कर ईश्वरसे मिलता है, तब

शुद्ध हो जाता है, परन्तु देहादि रहनेतक तो वह जीव ही कहलायेगा। देहादिके नष्ट होनेपर अद्वैतमतसे तो वह ब्रह्मरूप हो जाता है और विशिष्टाद्वैतमतमें तो पृथक् अनुभवमें न आनेपर भी वह स्वरूपत: भिन्न रहता है, वस्तुत: क्या है सो तो परमात्मा ही जाने।

(घ) यह भी कोई नियम नहीं है कि 'जो दुनियामें देखा जाता है वही उपमामें दिया जाता है'; वह तो एक कविकी कल्पना है। यथा—*'ब्रह्म जीव बिच माया जैसे।'* (२। १२३) *'बिप्र बिबेकी बेदबिद संमत साधु सुजाति। जिमि धोखे मद पान कर सचिव सोच तेहि भाँति॥'* (२। १४४) अत: यह नहीं कहा जा सकता कि प्रसिद्ध उपमा न होनेसे मदिरापरक अर्थ नहीं हो सकता।

बाबा हरिदासजी—किसी-किसी देशमें ब्राह्मणादि सभी जातियाँ मद्यपान करती हैं। (यह बात आज भी प्रत्यक्ष देखी जाती है। शाक्त तो सभी पीते हैं) पर संतजन उसे नहीं पान करते, अत: उन्हींको कहा।

लमगोड़ाजी—गोस्वामीजीका काव्य प्रसादकाव्य है। अर्थ १ में प्रसाद गुण है, अत: वही ठीक है।

नोट—३ (६९। ५—७; ६९, ७०। १-२) कविकी ही व्याख्या है। शिवपुराणमें नहीं है। भागवत और शिवपुराण आधार भले ही हों पर यहाँकी व्याख्या बड़ी ही अनोखी है।

संभु सहज समरथ भगवाना। एहिं बिबाह सब बिधि कल्याना॥ ३॥
दुराराध्य पै अहहिं महेसू। आसुतोष पुनि किएँ कलेसू॥ ४॥
जौ तपु करै कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥ ५॥

शब्दार्थ—**दुराराध्य**=जिसका पूजन, जिसको संतुष्ट वा प्रसन्न करना, जिसकी उपासना कठिन हो। **आसुतोष**=शीघ्र संतुष्ट वा प्रसन्न होनेवाले। आसु (आशु)=शीघ्र; यथा—*'खंड खंड होइ फूटहिं आसू।'*, 'सत्वरं चपलं तूर्णमविलम्बितमाशु च।' (अमरकोश १। ६८)

अर्थ—शिवजी स्वाभाविक (आप-से-आप) ही समर्थ और भगवान् (षडैश्वर्यसम्पन्न) हैं। इस विवाहसे सब प्रकार कल्याण ही है॥ ३॥ पर महादेवजीकी आराधना कठिन है। फिर भी क्लेश उठानेसे वे शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं॥ ४॥ यदि तुम्हारी कन्या तपस्या करे तो त्रिपुरके नाश करनेवाले शिवजी भावी भी मिटा सकते हैं॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'संभु सहज समरथ भगवाना।......'* इति। (क)—पूर्व यह कहकर कि *'समरथ कहुँ नहिं दोषु गोसाईं।......'* तब यहाँ *'संभु सहज समरथ......'* कहनेका भाव यह है कि शिवजी समर्थ भी हैं और षडैश्वर्यसम्पन्न होनेसे 'ईश्वर' भी हैं। अतएव 'अगुन, अमान' आदि दोष उनमें दोष न होकर गुणरूप ही हैं। ये सब गुण हैं। [(ख) *'सहज'* शब्दसे जनाया कि वे किसीके बनायेसे समर्थ नहीं हैं, उनका सामर्थ्य उपार्जित नहीं है, किंतु वे स्वभावसे स्वयं समर्थ हैं। 'भगवान्' से जनाया कि दोष तो जीवोंमें होते हैं, और ये तो 'भगवान्' हैं अर्थात् सर्वदोषरहित हैं, जीवोंको गति और अगतिके देनेवाले हैं। पुन: भाव कि वे ईश हैं। उनमें पूर्व कहे हुए दोष 'मलके ऐसे तन्मय हैं, उन दोषोंके ऊपर उनका प्रभाव छा गया है; अतएव उनके साथ विवाह होनेसे सब प्रकार हित ही है।' (सुधाकर द्विवेदी) (ग) पूर्व (५२। ५) में जो कहा था कि *'इहाँ संभु अस मन अनुमाना। दच्छसुता कहुँ नहिं कल्याना॥'* उसीकी जोड़में यहाँ अब कहते हैं कि *'एहिं बिबाह सब बिधि कल्याना।'* पूर्व अकल्याणरूपी पतिवियोग हुआ और अब पुन: संयोग होगा।]

नोट—१ देखिये, 'शंभु' का अर्थ 'कल्याणकर्ता' है। *'सब बिधि कल्याना'* के साथ इसका प्रयोग कैसा सुसंगत है। वे शंभु हैं; अत: उनका सम्बन्ध हो जानेसे सब प्रकारके कल्याण निश्चित हैं। इसी प्रकार आगे 'दुराराध्य' और 'आसुतोष' के सम्बन्धसे (अर्थात् आराधनाकी कठिनता और फिर प्रसन्नतामें शीघ्रता कहते समय), 'महेस' नाम दिया है। 'महेश' हैं अर्थात् महान् ईश हैं, परम समर्थ हैं, इसीसे तो उनमें दोनों विपरीत गुण, विरोधी भाव सिद्ध हैं। और *'भाविउ मेटि सकहिं'* अर्थात् भावी मेटनेके सम्बन्धसे 'त्रिपुरारी' शब्द दिया। विशेष टिप्पणी २ में देखिये।

नोट—२ *'दुराराध्य पै अहहिं महेसू।'* इति। आराधना बड़ी कठिन है, रावणने सिर काट-काटकर चढ़ाये। जब वे बड़ी कठिन रीतिसे आराधनीय हैं तब ऐसा कठिन क्लेश उठानेसे क्या लाभ? प्रसन्न होनेपर वे क्या दे सकते हैं यदि कष्ट उठाया जाय? इसपर कहते हैं कि वे 'महेश' हैं, महान् ऐश्वर्यसे भरे हैं, यदि क्लेश उठाया जाय तो प्रसन्न होनेपर क्या नहीं दे सकते? सभी कुछ दे सकते हैं।

नोट—३ 'दुराराध्य' हैं तो बहुत दिनों कष्ट उठाना पड़ेगा? इस शंकाकी निवृत्तिके लिये *'आसुतोष पुनि……'* कहा। अर्थात् कष्ट उठानेसे झट प्रसन्न हो जाते हैं, देर नहीं लगती। 'आसुतोष' के उदाहरण विनयपत्रिकामें *'बावरो रावरो नाह भवानी……।'* (पूरा पद ५), *'कवनि भगति कीन्हि गुननिधि द्विज।……'* (पद ७), इत्यादि हैं। (सुधाकर द्विवेदीजी)

टिप्पणी—२ *'जौं तपु करै……भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी'* इति। (क) *'त्रिपुरारी'* का भाव कि जैसे त्रिपुरका मारना कठिन था वैसे ही भावीका मिटाना भी कठिन है। पर जैसे इन्होंने त्रिपुरको मारा, वैसे ही भावी मेटनेको भी वे समर्थ हैं। त्रिपुरको कोई देवता, दैत्य आदि न मार सके थे, शिवजीहीने उसे मारा। इसी प्रकार पूर्व जो कहा था कि *'जो बिधि लिखा लिलार। देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार॥'* (६८) उस त्रिपुरासुररूपी भावीको शिवजी मिटा सकते हैं, अन्य देव-दनुज आदि उसे नहीं मिटा सकते हैं। (ख) *'भाविउ मेटि सकहिं'* का भाव यह भी है कि यदि शिवजी ही पति लिखे हैं, तब तो वे मिलेंगे ही, पर यदि कोई और वर इन लक्षणोंका लिखा होगा तो उस लेखको भी ये मिटा सकते हैं। प्रमाण यथा—*'जिन्ह के भाग लिखी लिपि मेरी सुखकी नहीं निसानी। तिन्ह रंकन्ह कहुँ नाक सँवारत हौं आयो नकबानी॥'* (विनय० पद ५)।

वि० त्रि०—प्रारब्ध और नियति भी महेश-विमुखको होती है। नियति ईश्वरकी शक्ति है, उसका रूप संकल्प है। ईश्वर सत्यसंकल्प है, पर नियतिका स्वभाव है कि ईश्वरपरायणके सम्मुख कुण्ठिता हो जाती है। वह महेश अपनी नियतिको भी हटाकर भक्तसे साधनका सम्पादन कराके उसे फलसे युक्त करता है। यही उसका बड़ा भारी स्वातन्त्र्य है।

नोट—४ ☞पार्वतीजी तो भगवती भवानी शिव-शक्ति ही हैं, इनको तपमें प्रवृत्त करानेका क्या कारण है? इस शंकाके समाधानमें यह कहा जा सकता है कि जब योगभ्रष्ट आदि उच्चकोटिके जीव किसी कारणसे पृथ्वीपर देह धारण करते हैं तब उस देहके पार्थिव अंशके साथ कुछ मायाके दोष भी आ ही जाते हैं जिनको तपश्चर्याके द्वारा नाशकर वे प्राणी दिव्य हो जाते हैं। उसी तरह सतीजीने एक तो अपने पतिके इष्टका अपमान किया था, दूसरे पतिका भी अपमान किया था और स्वयं भगवती होकर भी दो बार पतिसे झूठ बोलीं। ये दोष तो पूर्वसे थे ही और अब पार्थिव शरीर ग्रहण करनेसे उसके भी कुछ दोष होना स्वाभाविक ही है। इन दोषोंके नाश होनेपर ही वे पुनः शिवजीकी शक्ति होनेके योग्य हो सकेंगी। अतः तपके लिये कहा गया। नारदजीने पार्वतीजीसे कहा है कि तपसे पवित्र होनेपर तुम्हें शिवजी स्वीकार करेंगे; यथा—'**तपसा संस्कृतां रुद्रस्स द्वितीयां करिष्यति।**' (शिवपुराण २। ३। २१। २८)

नोट—५ जोड़के श्लोक ये हैं—'**शिवस्सर्वेश्वरस्सेव्योऽविकारी प्रभुरव्ययः॥**' '**शीघ्रप्रसादः स शिवस्तां ग्रहीष्यत्यसंशयम्। तपःसाध्यो विशेषेण यदि कुर्याच्छिवा तपः॥ सर्वथा तु समर्थो हि स शिवस्सकलेश्वरः। कुलिपेरपि विध्वंसी ब्रह्माधीनस्त्वकप्रदः॥**' (शि० पु० २। ३। ८। २१—२३) इनमें 'सहज समर्थ भगवान्', *'आसुतोष पुनि', 'जौं तपु करै कुमारि तुम्हारी'* की जोड़में क्रमशः सर्वेश्वर, सेव्य, अधिकारी, प्रभु, अव्यय, '**शीघ्रप्रसादः……**' '**तपःसाध्यो……तपः**' ये शब्द हैं और *'भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी'* का भाव '**कुलिपेरपि……प्रदः', 'सर्वथा समर्थो हि……**' में है। वे सबका नाश कर सकते हैं, ब्रह्मा उनके अधीन हैं (अतः भावी मिटवा देंगे)

बैजनाथजी—'पहले वरकी कुरूपताको विधिके अंकोंद्वारा दृढ़ करके शिवजीकी प्राप्तिसे भूषित किया। (फिर) शिवप्राप्तिको दुर्घट कहकर तपस्यासे कार्यकी सिद्धि कही। इसलिये यहाँ दृढ़ता अतिशयोक्ति अलंकार

हुआ। यथा—'*सामासंख्य विचारि कै फिर विशेष दृढ़ भाव। दृढ़ता अतिशय उक्ति सो वर्णन रसिक सुदाव॥ या प्रकार बिधि जो बने तब तो ऐसो होय। होय होय कि होय नहिं त्रिबिध बाद इमि सोय॥*' [वीरकविजी लिखते हैं कि 'पहले यह कहना कि शिवजी दुराराध्य हैं, फिर इसके विपरीत कथन कि कष्ट उठानेसे आशुतोष हैं; 'उक्ताक्षेप अलंकार'।']

जद्यपि बर अनेक जग माहीं। एहि कहँ सिव तजि दूसर नाहीं॥ ६॥
बरदायक प्रनतारति भंजन। कृपासिंधु सेवक मन रंजन॥ ७॥
इच्छित फल बिनु सिव अवराधें। लहिअ न कोटि जोग जप साधें॥ ८॥

शब्दार्थ—**बरदायक**=वरदाता=वर देनेमें एक ही (अद्वितीय)। **रंजन**=चित्तको प्रसन्न वा आनन्दित करनेवाले। **इच्छित**=इच्छा की हुई, चाही हुई अभीष्ट, मनोवाञ्छित। **अवराधना**=आराधना, उपासना=सेवा, पूजा। अवराधना=आराधना करना—इस क्रियाका प्रयोग केवल पद्यमें होता है। **लहना**=प्राप्त करना, पाना। **साधना**=सिद्ध करना, पूरा करना।

अर्थ—यद्यपि संसारमें वर बहुतेरे हैं (पर) इसके लिये शिवको छोड़ दूसरा वर नहीं है॥ ६॥ (शिवजी) वरदाता, शरणागतके दुःखके नाशक, दयासागर और सेवकके मनको प्रसन्न करनेवाले हैं॥ ७॥ शिवजीका आराधन किये बिना करोड़ों योग और जप साधने (निर्विघ्न पूर्ण—समाप्त करने) पर भी (इसके लिये) मनोवाञ्छित फल नहीं प्राप्त किया जा सकता॥ ८॥

नोट—१ '*जद्यपि बर अनेक जग माहीं।*......' इति। (क) अर्थात् इन लक्षणोंसे युक्त वर संसारमें अनेक हैं, पर इसके लिये शिवजी ही वर हैं। '*दूसर नाहीं*' का आन्तरिक भाव यह है कि यह दूसरेको बरेगी ही नहीं, जैसा कि आगे दोहा ८० में पार्वतीजीने स्वयं कहा है, जब सप्तर्षि पार्वतीजीके प्रेमकी परीक्षा लेने गये हैं। सप्तर्षियोंने बहुत लोभ दिखाया है, यथा—'*हम तुम्ह कहुँ बरु नीक बिचारा॥ अति सुंदर सुचि सुखद सुसीला। गावहिं बेद जासु जस लीला। दूषन रहित सकल गुन-रासी। श्रीपति पुर बैकुंठ निवासी॥ अस बरु तुम्हहिं मिलाउब आनी।*' और शिवजीकी अयोग्यता आदि कही है, यथा—'*निर्गुन निलज कुबेष कपाली। अकुल अगेह दिगंबर ब्याली॥ कहहु कवन सुख अस बर पाएँ।*' (७९) पर सप्तर्षियोंसे शिवजीकी अयोग्यता और अतिशय सुन्दर वरके प्राप्तिका प्रलोभन दिये जानेपर भी वे अपनी निष्ठामें अचल बनी रहीं जैसा उनके उत्तरसे स्पष्ट है। यथा—'*हठ न छूट छूटै बरु देहा।*......*महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम। जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥*' (८०) '*अब मैं जन्मु संभु हित हारा। को गुन दूषन करै बिचारा॥ जौं तुम्हरे हठ हृदय बिसेषी। रहि न जाइ बिनु किए बरेषी॥ तौ कौतुकिअन्ह आलस नाहीं। बर कन्या अनेक जग माहीं॥ जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुँआरी॥*......' इत्यादि। (नारदजी जानते हैं कि ये सती हैं, शिवजीकी शक्ति हैं। ऐश्वर्य गुप्त रखनेके लिये ही उन्होंने इस तरह घुमा-फिराकर कहा है।) सुधाकर द्विवेदीजीका मत है कि '*सती मरत हरि सन बरु मागा। जनम जनम सिवपद अनुरागा॥*' इस बातको अपनी सिद्धिके बल स्मरणकर नारदने कहा कि इसे शिव छोड़ दूसरा नहीं है। (ग) वन्दन पाठकजी लिखते हैं कि—एकाक्षर कोश और '**नामैकदेशेन नाम ग्रहणम्**' इस सिद्धान्तसे 'अनेक' [अ=(=विष्णु)+ने (=देवताओंका नेता=इन्द्र)+क (=ब्रह्मा)] बर (=श्रेष्ठ) हैं। अर्थात् विष्णु, इन्द्र और ब्रह्मा श्रेष्ठ हैं। पर इसे '*शिव तजि*' (=शिव तजी) अर्थात् पूर्वजन्ममें इसे महादेवजीने त्याग दिया है—'*एहि तन सतिहिं भेंट मोहि नाहीं। सिव संकल्पु कीन्ह मन माहीं॥*' इसलिये यह '*नाहीं*' (=नाहकी=अपने पतिकी) 'दूसर' (=दूसरी) है अर्थात् दूसरी देहधारिणी है।'—(परंतु यह पण्डितोंका वाग्विलास है, क्लिष्ट कल्पना है।) भाव यह है कि इसमें ऐसे-ऐसे चमत्कृत गुण हैं कि दूसरा बर इसे मिल नहीं सकता। (वि० त्रि०)

नोट—२ '*बरदायक प्रनतारति भंजन।*......' इति। वरदायक आदि गुण कहकर शिवजीकी प्रशंसा करते

हैं। जिसमें दम्पति पार्वतीजीको तपस्या करनेके लिये भेजें और पार्वतीजीका भी तपस्यामें उत्साह बढ़े। 'वरदायक' हैं, जैसे कि रावण आदिको वर दिये हैं; प्रणतारति भंजन हैं; यथा—*'गये जे सरन आरति के लीन्हें निरखि निहाल निमिष महँ कीन्हें।'* (विनय० ६) *'कृपासिंधु'* हैं अर्थात् कृपा उनके हृदयमें अगाध समुद्रवत् भरी हुई है; यथा—*'करुनाबरुनालय साईं हियो है।'* (क० २०५) इससे जनाया कि अवढरदानी हैं, वे शीघ्र कृपा करेंगे। *'सेवक मन रंजन'* हैं, अतः पार्वतीजीके मनकी अभिलाषा पूर्ण करके उनको आनन्दित करेंगे।

नोट—३ *'इच्छित फल बिनु सिव अवराधें……'* इति। यथा—*'इन्ह सन काहु न सिव अवराधे। काहु न इन्ह समान फल लाधे॥'* (३११) भाव यह है कि शिवजी वर देते समय आगा-पीछा कुछ नहीं विचार करते, जो ही सेवक माँगता है वही दे देते हैं, चाहे उलटे अपने ही जी-जानपर क्यों न आ बने। देखिये मिथ्या वासुदेवके पुत्रको कृत्यानल देकर द्वारका भेज दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि सुदर्शन चक्रने काशीपुरीको जला डाला। भस्मासुरको वर दे दिया कि जिसके सिरपर वह हाथ रख दे वह भस्म हो जाय सो वह वर पाकर आपहीपर हाथ साफ करने गया इत्यादि। इस कथनमें आशय यह है कि बिना किञ्चित् भी सोचे-विचारे मनोवाञ्छित फल देनेवाले शिवजी ही हैं और देवता बिना विचारे वर नहीं देते, अतएव मनचाहा वर चाहते हो तो शिवजीकी आराधनासे ही मिल सकता है। यहाँ 'प्रथम विनोक्ति अलङ्कार' है। ☞यहाँ *'एहिं कहँ सिव तजि दूसर नाहीं'* का ही प्रसङ्ग चल रहा है। इसलिये 'इच्छित फल' से पार्वतीजीके लिये शिवजीकी प्राप्तिरूपी इच्छित फल अभिप्रेत है। कारण कि इच्छित वरदानकी प्राप्ति ब्रह्मादि देवताओंके द्वारा भी होती है, पर शिवजी ही प्राप्त हों, इसके लिये तो उनकी ही आराधना करनी पड़ेगी।

वि० त्रि०—सेवक-मनोरञ्जन तो शिव ही हैं। इस कन्याकी रेखा पड़ी है *'होइहि पूज्य सकल जग माहीं, 'एहि सेवत कछु दुर्लभ नाहीं'* और बिना शिवकी आराधनाके वाञ्छितकी प्राप्ति नहीं होती। अतः यह फल तभी घटित होगा जब तुम्हारी कन्या तप करे और शिवजीसे इसका विवाह हो।

दो०—अस कहि नारद सुमिरि हरि गिरिजहि दीन्हि असीस।
होइहि यह* कल्यान अब† संसय तजहु गिरीस॥७०॥

अर्थ—ऐसा कहकर श्रीरामजीका स्मरण करके नारदजीने पार्वतीजीको आशीर्वाद दिया। (और कहा) हे गिरिराज! अब संदेह छोड़ दो, यह कल्याण (मङ्गल अर्थात् विवाह) निश्चय ही होगा॥७०॥

टिप्पणी—१ जो प्रथम शैलराजने सुताको प्रणाम कराया था, उसका आशीर्वाद यहाँ लिखते हैं। *'सुमिरि हरि'* का भाव कि कल्याण होनेका आशीर्वाद देते हैं और कल्याणके कर्ता 'हरि' हैं; यथा—*'सुमिरहु श्रीभगवान। पारबतिहि निरमएउ जेहि सोइ करिहि कल्यान॥'* (७१) अतः हरिको सुमिरकर आशीर्वाद दिया। पुनः भाव कि 'हे भगवन्! आप यह कार्य सिद्ध करें, शिवप्राप्ति कठिन है उसे करा दें।' इस प्रकार मनमें भगवान्‌का स्मरण करके तब आशीर्वाद दिया। [पुनः, दुःखहरणके सम्बन्धसे 'हरि' शब्द दिया; क्योंकि चाहते हैं कि वे दुःख हरनेवाले भगवान् इसके क्लेशको हरें तथा दम्पतिके सोचको हरें। सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'यहाँ 'हरि'से श्रीरामजी ही अभिप्रेत हैं। जिन श्रीरामजीसे सतीजीने मरते समय वर माँगा था उन्हींका ध्यान करके नारदजीने पार्वतीजीको आशीर्वाद दिया—'हे श्रीराम! आप इसे वर दे ही चुके हैं, अब इसकी इच्छा शीघ्र पूरी कीजिये।' हरिका ध्यान करते ही भविष्यज्ञान होनेसे कहा कि *'होइहि यह कल्यान……।'* हरि=श्रीरामजी। यथा—'**रामाख्यमीशं हरिम्**' (मं० श्लोक ६)]

टिप्पणी—२ *'होइहि यह कल्यान……'* इति। (क) भगवान्‌का स्मरण करके आशीर्वाद दिया और कहा कि यह कल्याण होगा। ☞इससे सूचित करते हैं कि भगवान्‌का स्मरण करके आशीर्वाद देनेसे ही उसकी सफलता होती है। ऋषि, मुनि, देवता, गुरुजन आदि जो आशीर्वाद देते हैं, उनकी पूर्ति प्रभुकी कृपाहीसे

* अब। † सब—१७२१, १७६२, छ०। १ यह २ अब—१६६१, १७०४, को० रा०।

होती है, अन्यथा नहीं। यथा—*'तात बात फुरि राम कृपाहीं। राम बिमुख सिधि सपनेहुँ नाहीं।'* (२। २५६) (ख) 'क्या कल्याण होगा?' यह ऊपर प्रथम ही कह चुके हैं; यथा—*'संभु सहज समरथ भगवाना। एहिं बिबाह सब बिधि कल्याना॥'* इसीसे 'यहाँ 'यह कल्यान' कहा अर्थात् जो अभी-अभी ऊपर कह चुके हैं वही। (पुनः, पूर्व पतिपरित्याग यह अकल्याण हुआ था, अब पतिसंयोग यह कल्याण होगा)। शिवजीसे विवाह होगा, यह आशीर्वाद दिया। पूर्व *'एहिं बिबाह सब बिधि कल्याना'* और *'एहि कहँ सिव तजि दूसर नाहीं'* में गुप्तरूपसे शिवप्राप्तिका आशीर्वाद दिया था और अब यहाँ प्रकटरूपसे आशीर्वाद दिया। 'कल्याण' का अर्थ मङ्गल है। (२०६) विवाह भी कल्याण वा मङ्गल-कार्य है; यथा—*'कल्यानकाज बिबाह मंगल सर्वदा सुख पाइहैं।'* इस तरह यहाँ 'कल्याण' से विवाह-मङ्गल अभिप्रेत है। ['अब' में भाव यह है कि कल्याणके लिये प्रयत्न आरम्भ हो जायगा और सिद्धि भी होगी, क्योंकि प्रारब्ध अनुकूल है, शिवपदानुरागका पूर्वजन्मार्जित वर है। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—३ *'अब संसय तजहु गिरीस'* इति। 'अब' का भाव कि पूर्वकल्याणकी हानि हुई थी; यथा—*'इहाँ संभु अस मन अनुमाना। दच्छसुता कहुँ नहिं कल्याना॥'* (५); वह कल्याण अब पुनः होगा। अतः 'अब' कहा।

नोट—१ आशीर्वाद चलते समय देनेका कारण यह भी है कि गिरिराज वरके दोष सुनकर अधीर हो गये थे। इसीसे अन्तमें यह भी कहा कि *'संसय तजहु गिरीस।'* अर्थात् इसका विवाह शंकरजीसे होगा, दूसरेसे नहीं, इसमें संदेह नहीं है। यथा—**'समादिदेशैकवधूं भवित्रीं प्रेम्णा शरीरार्धहरां हरस्य।'** (कुमारसम्भव १। ५०) अर्थात् नारदजीने कहा कि यह सपत्नियोंसे रहित शिवजीकी अर्धाङ्गिनी होगी। अब चिन्ता न करो। 'तजहु' से पाया जाता है कि उन्हें सोच और संशय था; यथा—*'झूठि न होइ देवरिषि बानी। सोचहिं दंपति सखी सयानी॥ उर धरि धीर कहैं गिरिराऊ। कहहु नाथ का करिअ उपाऊ॥'* (६८) इसीसे *'संसय तजहु'* कहा।

उमाचरित (श्रीपार्वती-तप) प्रकरण

कहि* अस ब्रह्मभवन मुनि गएऊ। आगिल चरित सुनहु जस भएऊ ॥ १ ॥
पतिहि एकांत पाइ कह मैना। नाथ न मैं समुझे† मुनि बैना॥ २ ॥
जौं घरु बरु कुलु होइ अनूपा। करिअ बिबाह सुता अनुरूपा॥ ३ ॥

शब्दार्थ—**अनूपा** (सं० अनुपम)=सुन्दर, उत्तम। **अनुरूपा**=तुल्यरूपका; योग्य, उपयुक्त।

अर्थ—(याज्ञवल्क्यजी कहते हैं) ऐसा कहकर मुनि (श्रीनारदजी) ब्रह्मलोकको गये। आगे जैसा कुछ चरित्र हुआ उसे सुनो॥ १॥ पतिको एकान्तमें (अकेले) पाकर मैनाजीने कहा—हे नाथ! मैं मुनिके वचन (अर्थात् उनके वचनोंका आशय) नहीं समझी॥ २॥ यदि घर, वर और कुल (तीनों) उत्तम और कन्याके योग्य हों तो विवाह कीजिये॥ ३॥

नोट—१ *'कहि अस ब्रह्मभवन मुनि गएऊ।......'* इति (क) *'नारद समाचार सब पाए। कौतुक ही गिरि गेह सिधाए॥'* (६६। ५) उपक्रम है और *'ब्रह्म भवन मुनि गएऊ'* उपसंहार। वे ब्रह्मभवनसे आये थे; यथा *'ब्रह्मादिक गावहिं जसु जासू। नारद समाचार सब पाए॥'* (६६। ४-५) *'ब्रह्मभवन*=ब्रह्मलोक=सत्यलोक; यथा *'सत्यलोक नारद चले करत राम गुनगान।'* (१। १३८) नारदजी प्रायः ब्रह्मलोकमें ही रहा करते हैं। अथवा जब कहीं बाहर जाते हैं तो प्रायः प्रथम अपने पिता ब्रह्माजीके पास ब्रह्मलोकमें चरित सुनानेके लिये आते हैं; यथा—*'प्रेम सहित मुनि नारद बरनि राम गुनग्राम। सोभासिंधु हृदय धरि गए जहाँ बिधिधाम॥'* (७। ५१) *'बार बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत रामके गावहिं॥ नित नव चरित देखि*

* अस कहि—भा० दा०। † बूझे—१७२१, १७६२, छ०। समुझे—१६६१, १७०४, को० रा०।

मुनि जाहीं। ब्रह्म लोक सब कथा कहाहीं॥' (७। ४२) इत्यादि वैसे ही इस समय भी चरित सुनाने गये। (ख) *'आगिल चरित सुनहु जस भएऊ'* से पार्वती-तप-प्रसंग' चला। (ग) *'चरित'* शब्द यहाँ देकर जनाया कि पूर्व जो जन्म आदि कहे गये वह भी पार्वतीजीका एक 'चरित' है। यहाँतक 'जन्म' 'नामकरण' तथा 'इच्छित वरप्राप्तिका आशीर्वाद' कहा गया। [नारद कौतुकके लिये आये, कौतुक करके चले गये। कौतुकसे क्या-क्या हुआ यह याज्ञवल्क्यजी आगे कहते हैं। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—१ (क) *'पतिहि एकांत पाइ कह मैना'* इति। [एकान्तमें पूछा; क्योंकि वरके विषयमें कन्या आदिके सामने माता-पिताका बात करना उचित नहीं। पुन: एकान्तमें पूछनेका कारण यह कि सबके सामने यह कैसे कहें कि हमारी समझमें बात नहीं आयी। अथवा सम्भव है कि सबके सामने हिमाचल मुनिकी सब बातें न कहें, अत: एकान्तमें पूछा। अथवा कुछ समझीं, कुछ न समझीं इससे वा पतिका आशय जाननेके लिये एकान्तमें पूछा। (सू० प्र० मिश्र) ☞घरकी बातें एकान्तमें ही कहनी चाहिये।] (ख) *'नाथ न मैं समुझे मुनि बैना'* इति। न समझनेका कारण यह है कि नारदजीके वचन स्पष्ट नहीं हैं, यथा—*'नारद बचन सगर्भ सहेतू।'* (७२। ३) इसीसे ग्रन्थकारने भी *'बचन'* शब्द न रखकर *'बैन'* (बयन) रखा। पुन:, मैनाके वचनसे पाया जाता है कि वे इतनाभर समझीं कि वर अच्छा न मिलेगा। जैसा कि नारदजीने प्रथम कहा था—*'अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि परी हस्त असि रेख॥'* (६७) तत्पश्चात् जो नारदजीने कहा वह न समझीं। कारण न समझनेका एक तो यह था कि नारदजी गूढ़ वचन बोले थे, क्योंकि वे पार्वतीजीका ऐश्वर्य अभी खोलना नहीं चाहते थे, स्पष्ट कहना नहीं चाहते थे कि ये शिवजीकी अर्धाङ्गिनी हैं, वे ही इनके पति होंगे; दूसरे, वरके दोष सुनकर मैनाजी बहुत विह्वल और अधीर हो गयी थीं। [इस चरणमें श्रीमैनाजीका भोला-भालापन दिखाया है कि कैसी सीधी-सादी हैं।]

नोट—२ *'जौं घरु बरु कुलु होइ अनूपा……'* इति। (क) कन्यादानमें प्रथम कुलका विचार किया जाता है, इसमें पिताकी इच्छा प्रधान होती है। फिर घरका विचार कि भोजन, वस्त्र और रहनेका सुख हो, इसमें माताकी इच्छा प्रधान है। जब ये दोनों माता-पिताकी इच्छाके अनुकूल हों तब वरके विषयमें विचार होता है। यह कन्याकी इच्छाके अनुकूल होना चाहिये। यहाँ इस क्रमके प्रतिकूल कहा है। अर्थात् पहले 'घर' कहा तब 'वर' और तब 'कुल'। कारण कि ये मैनाजीके वचन हैं। मैनाजी माता हैं, अतएव वे अपनी इच्छाको प्रधानता दिया ही चाहें; इसीसे उन्होंने प्रथम अपनी रुचि 'घर' कहा, तब कन्याकी रुचि, और तब पिताकी रुचि कही। (पांडेजी, वै०) (ख) सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि यहाँ स्त्रीस्वभाव दिखलाया है। मैनाजी कहती हैं कि नारदजीने यदि किसी अयोग्य वरके साथ ब्याह करनेको कहा हो तो ठीक नहीं, खूब देख-भालकर ब्याह करना चाहिये। ऐसा न हो कि आप नारदजीके कहनेपर ब्याह कर डालें। पहले तो 'घर' उत्तम होना चाहिये; यथा—'**माता वित्तम्।**' *'बरु'* से कन्याकी इच्छाको दिखलाया कि वर देखनेमें सुन्दर हो; यथा—'**कन्या वरयते रूपम्।**' 'कुल' से बान्धवोंकी रुचि सूचित की कि ऐसा न हो कि विवाह करनेपर बान्धव हँसें; यथा—'**बान्धवा: कुलमिच्छन्ति**' [☞ पूरा श्लोक इस प्रकार है—'**कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम्। बान्धवा: कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जना:॥**' (सुभाषित) अर्थात् कन्या रूपवान् पति, माता ऐश्वर्य, पिता विद्या, बन्धुवर्ग उत्तम कुल और अन्य लोग (बाराती) सुन्दर भोजन-सत्कार चाहते हैं।] (ग) सुधाकर द्विवेदीजी कहते हैं कि मैनाको मोटी-मोटी बातें समझ पड़ीं कि मेरी कन्याके विवाहके विषयमें कुछ नारदने कहा है और किसी वरका भी नाम लिया है, इसलिये कहती हैं कि *'जौं घरु……'* अर्थात् घर, वर, कुल उत्तम और बेटीके अनुकूल हो; क्योंकि शास्त्राज्ञा है—'**समाने सदृशे वरे**'। अर्थात् योग्य वरको कन्या देनी चाहिये। (घ) घर, वर और कुलके साथ 'अनूपा' और विवाहके साथ *'सुता अनुरूपा'* वा 'सुता' के 'अनुरूपा' कहनेका भाव कि घर-वर-कुल उत्तम हो, हमारे सदृश या हमसे विशेष हो और विवाह सुताके अनुरूप हो अर्थात् वर सुताके सदृश सुन्दर, सुशील आदि हो। (पं०) किसीने इसपर यह दोहा लिखा है—*'रूपहिं दंपति मातु धन पिता नाम बिख्यात। उत्तम कुल बांधव चहैं भोजन लोग बरात॥'*

☞ '*जौ घरु बरु कुल*......' से स्पष्ट है कि मैनाजी मुनिके वचनका सीधा अर्थ ही समझीं।

नोट—३ पद्मपुराण, सृष्टिखण्डमें भगवान्‌ने ब्राह्मणसे बताया है कि कन्याका विवाह किसके साथ न करना चाहिये। 'जो बहुत खाता हो, अधिक दूर रहता हो, अत्यधिक धनवान् हो, जिसमें अधिक दुष्टता हो, जिसका कुल उत्तम न हो, जो मूर्ख हो, जो अत्यन्त वृद्ध, अत्यन्त दीन, रोगी, अति निकट रहनेवाला, अत्यन्त क्रोधी वा असन्तुष्ट हो'—इन बारह व्यक्तियोंको कन्या न देनी चाहिये। जो लोभवश अयोग्य पुरुषको कन्यादान करता है वह रौरव नरकमें पड़ता है; यथा—'**यः पुनः शुल्कमश्नाति स याति नरकं नरः। विक्रीत्वा चात्मजां मूढो नरकान्न निवर्तते॥ लोभादसदृशे पुंसि कन्यां यस्तु प्रयच्छति। रौरवं नरकं प्राप्य चाण्डालत्वं च गच्छति॥**' (४९। ९०-९१) ☞ गोस्वामीजीके '*जौ घरु बरु कुल*......' इससे तथा पद्मपु० के उपर्युक्त उद्धरणसे कन्याओंके माता-पिताओंको उपदेश ग्रहण करना चाहिये। पद्मपु० के उद्धरणको 'सुताके अनुरूप कौन नहीं है' इसकी व्याख्या वा परिगणन समझना चाहिये।

☞ तुलनात्मक श्लोक—'**मेना प्राप्यैकदा शैलनिकटं प्रणनाम सा॥**'.....'**मुनिवाक्यं न बुद्धं मे सम्यङ् नारीस्वभावतः। विवाहं कुरु कन्यायास्सुन्दरेण वरेण ह॥**'(शि० पु० २। ३। ३९)

न त कन्या बरु रहउ* कुआरी। कंत उमा मम प्रान पिआरी॥ ४॥
जौ न मिलिहि बरु गिरिजहि जोगू। गिरि जड़ सहज कहिहि सबु लोगू॥ ५॥
सोइ बिचारि पति करेहु बिबाहू। जेहि न बहोरि होइ उर दाहू॥ ६॥

शब्दार्थ—**कंत** (सं० कान्त)=पति, स्वामी। **प्रान पिआरी**=प्राणोंके समान वा प्राणोंसे भी अधिक प्यारी।

अर्थ—नहीं तो बेटी भले ही कुँआरी रह जाय (इसमें हर्ज नहीं, पर अयोग्य वरके साथ ब्याह करना उचित नहीं)। हे स्वामिन्! उमा मुझे प्राण प्यारी है॥ ४॥ यदि पार्वतीके योग्य वर न मिला तो सब लोग कहेंगे कि (आखिर) गिरि स्वाभाविक जड (ही तो) हैं। (इसीसे ऐसा अयोग्य वर ढूँढ़ा)॥ ५॥ 'हे पति! इस बातको विचारकर ही ब्याह कीजियेगा; जिसमें फिर पीछे हृदयमें संताप न हो॥ ६॥'

नोट—१ '*न त कन्या बरु रहउ कुआरी।*' इति। (क) स्त्रियोंका कन्यापर जैसा वात्सल्य और स्नेह रहता है वैसा ही ठीक-ठीक यहाँ दरसाया गया है। यह स्वभावोक्ति है। (ख) '*रहउ कुआरी*' का भाव 'कुरूप, दरिद्री और हीन कुलवालेको कन्या न देना, क्योंकि ऐसेको कन्या देनेसे सभी-(कन्या, माता-पिता, बन्धुवर्ग-) को दुःख होगा। (ग) '*बरु रहउ कुआरी*' का भाव कि अयोग्यके साथ तो ब्याह कदापि न करूँगी, ब्याह न हो तो न सही। कन्या मुझे भार नहीं है। इस तरह अयोग्य वरके साथ विवाह होनेसे अधिक क्लेश जनाया और बिना ब्याही रहनेमें उतना क्लेश नहीं होता, यह जनाया। पुनः भाव कि कुँआरी रही तो इसमें अपना वश ही क्या है? यथा—'*कुँअरि कुआरि रहउ का करऊँ।*' (१। २५२ श्रीजनकवचन) मनुजी भी कहते हैं—'**काममामरणात्तिष्ठेद्गृहे कन्यर्तुमत्यपि। न चैवैनां प्रयच्छेत गुणहीनाय कर्हिचित्॥**' (९। ८९) अर्थात् माता-पिता कन्याको ऋतुमती होनेपर भी आमरण घरमें ही रखें, परन्तु गुणहीन वरके साथ कभी ब्याह न करें।

टिप्पणी—१ '*कंत उमा मम प्रान पिआरी।*' इति (क) ['कंत' 'एकांत' के सम्बन्धसे कितना सुन्दर है? बड़ा ही प्रिय शब्द है जिसमें पतिके प्रति प्रेमका भाव भरा हुआ है। मिलान कीजिये '*कंत करष हरि सन परिहरहू। मोर कहा अति हित चित धरहू॥*' (५। ३६) '*कंत राम बिरोध परिहरहू।*' (६। १४) '*कंत समुझि मन तजहु कुमतिही।*' (६। ३५) मन्दोदरीने चिन्तित होनेपर और पति उसकी बात मान ले, इस विचारसे अपना अत्यन्त प्रेम दरसानेके लिये '*कंत*' सम्बोधन किया है। वैसे ही यहाँ मेनाजी चिन्तित हैं और चाहती हैं कि पति मेरी सलाह मान लें। (ख) '*उमा मम प्रान पिआरी*' कहनेका भाव कि उसका

* रहइ—छ०। 'रहउ'=रहे; यथा—कुअँरि कुआँरि रहउ का करऊँ' (१। २५२), रहउ चढ़ाउब तोरब भाई। तिलु भरि भूमि न सके छड़ाई।' (१। २५२) इत्यादि।

क्लेश मुझसे न सहा जायगा, उसको दु:खी देखकर मेरे प्राण न रहेंगे। यथा—'*तुम्ह सहित गिरि तें गिरउँ पावक जरौं जलनिधि महुँ परौं। घर जाउ अपजसु होउ जग जीवत बिबाहु न हौं करौं॥*' (९६)—[बन्दन पाठकजी लिखते हैं कि 'संस्कृत एकाक्षरकोशमें 'म' ब्रह्माको कहते हैं, इस तरह '**मम**'=**मस्य मः इति ममः**।=म (ब्रह्माका)-म (ब्रह्मा)=ब्रह्माको बनानेवाला महादेव। '*मम प्रान पिआरी*'=महादेवकी प्राणप्रिया हैं—यह अर्थ वाक्छलसे मेनाकी जीभपर बैठकर सरस्वतीने कह दिया। इसीको और पक्का करनेके लिये उमा—'**वो: महादेवस्य मा लक्ष्मी:**' इति उमा—नाम भी कहा। (मा० प०) परंतु यह क्लिष्ट कल्पना और पण्डितोंका वाग्विलास है जो महाकविजीके प्रसादकाव्यकी महिमा ही दिखा रहे हैं।]

नोट—२ '*जौं न मिलिहि बरु*······' इति। प्रथम '*उमा मम प्रान पिआरी*' कहकर अपनेको क्लेश होगा यह जनाया और अब इस वाक्यसे सुझाती हैं कि अयोग्य वर मिलनेसे मेरे तो प्राण जायेंगे ही और आपकी भी हँसी होगी, आपको सभी जड़ कहेंगे और कन्याको भी क्लेश होगा। इस तरह हम तीनोंका मरण होगा; क्योंकि सम्भावितके लिये अपकीर्ति मरणसे भी अधिक दु:ख देनेवाली है। यथा—'*संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥*' (२। ९५) '*गिरि जड़ सहज*······' अर्थात् पर्वत स्वभावसे जड़ होता ही है, इसीसे इन्होंने जड़ता (मूर्खता) की तो आश्चर्य ही क्या? ये तो पर्वतराज हैं, इन्होंने जड़ता की सो उचित ही है। इसीसे गिरिजाके योग्य वर न ढूँढ़ा। पुन: भाव कि एक तो हम जड़ हैं ही, पर तब अन्य सब लोग भी हमें जड़ कहेंगे। अथवा, पर्वत जड़ होता ही है, उसके सम्बन्धसे हमें भी लोग जड़ कहेंगे। क्योंकि हमलोग इनके अधिष्ठातृ देवता या राजा हैं।

टिप्पणी—२ '*सोइ बिचारि पति करेहु बिबाहू।*······' इति। (क) '*पति*' का भाव कि '**पाति रक्षति इति पतिः।**' अर्थात् आप हमारे रक्षक हैं, अत: इस संतापसे हमारी रक्षा कीजिये, मेरी रक्षा करना आपका धर्म है। [(ख) '*सोइ बिचारि*' से सूचित होता है कि नारदजीकी बातोंसे इतना और समझ पड़ा था कि नारदजीने किसी अयोग्य वरकी चर्चा की है। (सुधाकर द्विवेदी) पुन: भाव कि लोग हमें मूर्ख कहें, जड़ कहें, इसकी मुझे अधिक परवा (चिन्ता) नहीं, पर ऐसा न हो कि अयोग्य वरके साथ ब्याह कर देनेसे गिरिजाका दु:ख देखकर हमलोगोंके हृदयमें संताप हो, अतएव खूब सोच-विचारकर ब्याह कीजियेगा। यही समझकर कहती हैं कि '*जेहि न बहोरि होइ उर दाहू*'] (ग) '*जेहि न*······' अर्थात् आगे दाह होनेसे यही अच्छा है कि कन्या कुँआरी ही रह जाय।

अस कहि परीचरन* धरि सीसा। बोले सहित सनेह गिरीसा॥ ७॥
बरु पावक प्रगटै ससि माहीं। नारद बचनु अन्यथा नाहीं॥ ८॥

शब्दार्थ—**अन्यथा**=और-का-और, असत्य=झूठ।

अर्थ—ऐसा कहकर (पतिके) चरणोंपर सिर रखकर गिर पड़ी। (तब) हिमवान् प्रेमसहित बोले॥ ७॥ चन्द्रमामें अग्नि भले ही प्रकट हो जाय, पर श्रीनारदजीके वचन असत्य नहीं हो सकते॥ ८॥

नोट—१ '*अस कहि*'—अर्थात् जैसा ऊपर लिख आये—'*जौं घरु बरु*' से '*जेहि न बहोरि होइ उर दाहू।*' तक

नोट—२ '*परी चरन*······' इति। चरणोंमें सिर धरकर पड़ जानेका भाव कि—मैनाजी इस तरह मनाती हैं कि 'हे स्वामी! आप भी प्रतिज्ञा करें कि अयोग्य वरसे ब्याह न करेंगे। इस तरह पतिकी कार्यपद्धतिको बदलना चाहती हैं कि वे '*जोगी जटिल अकाम मन*' वालोंमें कौन अच्छा है इस खोजमें न लगें, अच्छे घर-वर-कुलकी खोज करें। यह दशा करुणरसकी परिपूर्णता और प्रार्थनाकी अतिशयता सूचित करती है। इस करुणरसपरिपूर्ण प्रार्थनासे हिमवान्‌को दया आ गयी और वे स्नेहसहित बोले। (पं० पां० वै, मा० प०)

* घरनि—छ०।

नोट—३—*'सहित सनेह'* का रूप आगे दिखाया गया है; यथा—*'प्रिया सोच परिहरहु……।'* इससे यह भी जनाया कि हँसकर, हाथ पकड़कर, मैनाजीको उठाकर आदरसहित अत्यन्त निकट बैठाकर, गलेमें हाथ डालकर इत्यादि रीतिसे प्रेम दरसाकर *'प्रिया'* सम्बोधन करते हुए बोले। मैना घबड़ा गयी हैं, उनको सांत्वना देना है, सन्तुष्ट करना है, अतः प्रेमसहित समझाना आवश्यक था; इसीसे *'बोले सहित सनेह'* कहा।

नोट—४—*'गिरीसा'* इति। नारदजीने जो कहा था कि *'एहि तें जसु पैहहिं पितु माता'*, वह फल उनको प्रत्यक्ष मिल रहा है, क्योंकि *'जब तें उमा सैलगृह जाईं। सकल सिद्धि संपति तहँ छाईं॥ ब्रह्मादिक गावहिं जसु जासू।'*—इससे हिमवान्‌को नारद-वचनमें पूर्ण विश्वास हो गया था, वह विश्वास कैसे हट सकता है? श्रद्धासे जिस बातको पकड़ ली, उसे नहीं छोड़ेंगे, इस भावको दरसानेके लिये यहाँ प्रारम्भमें ही *'गिरीस'* नाम कविने दिया है।

नोट—५ *'बरु पावक प्रगटै ससि माहीं।……'* इति। (क) ☞इस वाक्यसे नारदजीके वचनकी दृढ़ता सूचित करते हैं कि इनका वचन तीनों कालोंमें अन्यथा होनेवाला नहीं; अतः तुम स्त्रीस्वभाव छोड़कर भगवान्‌का स्मरण करो, जैसा आगे कहते हैं। सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'शशि (चन्द्रमा) जलमय है। पुराणोंमें लिखा है कि चन्द्रमा अत्रिके अश्रुजलसे बना है; यथा—'**हरिहरविरञ्चिवरलाभश्रवणं सहर्ष पुत्रकामाऽग्निनेत्रविगलितजलविन्दुरिन्दुः।**' जल अग्निका नाशक है, उसमें अग्निका होना असम्भव है। वह भी सम्भव हो जाय तो हो जाय, पर नारदका वचन अन्यथा नहीं हो सकता। इस वाक्यसे ग्रन्थकारने *'हिम'* से अचल श्रद्धा दिखायी। अर्थात् '**यथा नाम तथा गुणः**' इस सिद्धान्तसे जैसा गिरिका नाम 'अचल' है वैसा ही नारदके वाक्यमें श्रद्धा भी अचल है, यह सिद्ध किया।' पं० रामकुमारजी कहते हैं कि 'चन्द्रमा भी भगवान्‌का मन है और नारद भी मन हैं। चाहे चन्द्रमा—मनका धर्म छूट जाय पर यह (नारद) मनका धर्म न छूटेगा।' और कोई महानुभाव कहते हैं कि गिरिराजका अभिप्राय यह है कि 'हे प्रिये! यह तो तुम जानती ही हो कि शशि हिमकर भी कहा जाता है, हिमालयपर वह हिम स्रवता ही रहता है, उसमेंसे अग्निका स्रवना असम्भव है, तो भी चाहे यह अनहोनी भी सम्भव हो जाय पर नारद-वचन असम्भव हो जाय यह कदापि सम्भव नहीं।' ☞यहाँ चन्द्रमासे नारदमें विशेषता दिखायी है। चन्द्रमा देवता है और नारद देवर्षि हैं। '**चन्द्रमा मनसो जातः।**' अर्थात् चन्द्रमा मनसे उत्पन्न हुआ है और नारदजी तो भगवान्‌के मन ही हैं।

(ख) साधारण देवता भी असत्य नहीं बोलते और ये तो देवर्षि हैं। इनके वचन स्वभावतः कभी असत्य नहीं हो सकते। इस सामान्य बातका विशेषसे समर्थन करना 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है। 'प्रौढ़ोक्ति' का भी आभास है। (वीरकवि) यह *'सोइ बिचारि पति करेहु बिबाहू'* का उत्तर है।

(ग) शिवपुराणमें भी ऐसा ही है। यथा—'**इत्युक्त्वाश्रुमुखी मेना पत्यङ्घ्र्योः पतिता तदा। तामुत्थाप्य गिरिः प्राह यथावत्प्राज्ञसत्तमः॥ शृणु त्वं मेनके देवि यथार्थं वच्मि तत्त्वतः। भ्रमं त्यज मुनेर्वाक्यं वितथं न कदाचन॥**' (२।३।९।८-९)

दो०—प्रिया सोचु परिहरहु सबु* सुमिरहु श्रीभगवान।
पारबतिहि† निरमएउ जेहि सोइ‡ करिहि कल्यान॥ ७१॥

अर्थ—प्रिये! सब सोच छोड़ दो, 'श्रीभगवान्' का स्मरण करो। जिसने पार्वतीको रचा (बनाया, पैदा किया) है, वही निश्चय ही कल्याण करेगा॥ ७१॥

नोट—१ असम्भव बात वा होनहारके लिये सोच न करना चाहिये। दूसरे, भगवान् ही भावीको मिटा

* अब। † पारबती—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०। * सबु। † पारबतिहि—१६६१, १७०४, को० रा०। ‡ सोई करिअहि—ना० प्र०।

सकते हैं। अतः सोच छोड़कर स्मरण करनेको कहा। सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि ***'कर्म प्रधान बिस्व करि राखा'*** इस पूर्वमीमांसाके सिद्धान्तको पक्का मानकर तथा—**'स रक्षिता रक्षति यो हि गर्भे'** इसके अनुसार कहा कि जिसने पार्वतीको बनाया वही सब कल्याण करेगा। बहुत ज्ञान होनेसे लोग नास्तिक हो जाते हैं, भगवान्‌में उनकी अचल श्रद्धा नहीं होती। इसलिये सब बातोंको छोड़कर '**कर्त्तुमकर्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थो भगवान्**' इसी एकको जो पकड़कर रहता है वही पूरा आस्तिक मूढ़ कहाता है—'सबसे बड़े हैं ***'मूढ़ जाहि न ब्यापत जगत गति।'*** सो महामूढ़ गिरीश अपना सिद्धान्त कहकर आप निश्चिन्त हुए और अपनी स्त्रीको भी निश्चिन्त किया।'

नोट—२ ***'सब सोच'*** अर्थात् घर-वर-कुलका सोच, सुताके योग्य वर मिलने-न-मिलनेका सोच, हमको जड़ कहे जानेका सोच तथा हृदयमें दाह होनेका सोच।

नोट—३ ***'सुमिरहु श्रीभगवान'*** इति। (क) इससे जनाया कि हिमाचलका भागवत-(नारद-) के वचन और श्रीभगवान्‌पर विश्वास है। (ख) श्रीभगवान्‌को स्मरण करनेका भाव कि वे अपनी ऐसी जोड़ी मिला देंगे। पुनः, ***'पारबतिहि निरमएउ जेहि'*** इस सम्बन्धसे 'श्रीभगवान्' कहा; जो उत्पत्ति करे वह भगवान् है। (पं० रा० कु०) पुनः, 'श्रीभगवान्' कहकर जनाया कि श्रीसहित भगवान्‌का स्मरण करो, जिसमें जैसा श्रीजीका पति सुन्दर है वैसा ही पति पार्वतीको मिले। श्री=श्रीजी, सीताजी; यथा—***'आगे राम सहित श्री भ्राता।'*** (पं०) सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि 'श्रीभगवान्' पदसे यह व्यञ्जित हुआ कि केवल भगवान् असमर्थ हैं, श्रीसहित उनके भजनसे वे सब इच्छा पूर्ण करेंगे। प० प० प्र० का मत है कि गिरिराजने जान लिया कि मेनाका नारद-वचनपर विश्वास नहीं है और भगवान्‌की कृपाके बिना यह विश्वास नहीं होगा। श्री=लक्ष्मी, ऐश्वर्य, शोभा इत्यादि। इन सभीकी प्राप्ति श्रीकी कृपासे होगी। अतः श्रीसहित स्मरण करनेको कहा।' (ग) साहसपूर्वक ईश्वरपर भरोसाकर चित्तको दृढ़ करना 'धृतिसंचारी भाव' है। (वीरकवि)

नोट—४ ☞***'सोइ करिहि कल्यान'*** इति। नारदजीने कहा था कि ***'होइहि यह कल्यान अब',*** अतः ये भी कहते हैं कि ***'सोइ करिहि कल्यान।'*** दोनों वाक्योंमें ***'हि'*** निश्चयका अर्थ दे रहा है। नारदजीने कहा—***'संसय तजहु।'*** वैसे ही ये मेनाजीसे कहते हैं कि ***'सोच परिहरहु सबु।'*** नारदजीके सम्बन्धमें ***'सुमिरि हरि'*** कहा था, हिमवान् भी उसीके अनुसार ***'सुमिरहु श्रीभगवान'*** कहते हैं। नारदजीने 'गिरीश' सम्बोधन किया था, वही 'गिरीश' शब्द यहाँ वक्ता मेनाको समझानेमें देते हैं—***'बोले सहित सनेह गिरीसा।'*** वहाँके 'गिरीश' सम्बोधनकी सार्थकता एवं चरितार्थता यहाँ दिखायी। ☞जैसा गिरीशको नारदजीने समझाया, ठीक वैसा ही गिरीशने मेनाजीको उपदेश दिया। इससे दिखाया कि हिमवान्‌ने मुनिके वचन गाँठ बाँध लिये। उनके वचनोंपर इनकी परम श्रद्धा है, अतः उसीको उन्होंने दृढ़ किया है। यहाँ यह भी सूचित होता है कि नारद-वचन अन्यथा होगा नहीं और उन्होंने इसके कल्याण होनेका आशीर्वाद दिया है तथा संशय और सोच छोड़नेको कहा है। अतः सब चिन्ता छोड़कर भगवत्स्मरण करनेको कहा। स्वयं तो नारदके उपदेशसे संशय छोड़े हुए हैं ही।

अब जौं तुम्हहि सुता पर नेहू। तौ अस जाइ सिखावनु देहू॥ १॥
करै सो तपु जेहि मिलहिं महेसू। आन उपाय न मिटिहि कलेसू॥ २॥
नारद बचन सगर्भ सहेतू। सुंदर सब गुन निधि बृषकेतू॥ ३॥

अर्थ—अब यदि तुम्हें कन्यापर प्रेम है तो जाकर उसे ऐसी शिक्षा दो कि वह ऐसा तप करे कि जिससे शिवजी मिल जायँ। (अर्थात् वे वररूपसे प्राप्त हो जायँ।) अन्य किसी उपायसे क्लेश नहीं मिटेगा॥ १-२॥ नारदजीके वचन गूढ़ भाव (रहस्य)—पूर्ण, हितकारी और कारणयुक्त हैं। वृषकेतु (धर्मध्वज) श्रीशिवजी, सुन्दर और समस्त गुणोंके निधान (भण्डार) वा खजाना हैं॥ ३॥

नोट—शिवपुराणमें इससे मिलते हुए श्लोक ये हैं—'**यदि स्नेहः सुतायास्ते सुतां शिक्षय सादरम्। तपः कुर्याच्छङ्करस्य सा भक्त्या स्थिरचेतसा॥ चेत्प्रसन्नः शिवः काल्याः पाणिं गृह्णाति मेनके॥**' (२।३।९।१०-११)

टिप्पणी—१ '*अब जौं तुम्हहि*......' इति। (क)—'*अब*' का अन्वय '*जाइ सिखावन देहू*' के साथ है। '*सुता पर नेहू*' के साथ नहीं है। क्योंकि सुतापर माताका स्नेह तो सब दिनसे है—[दोहेमें बताया कि प्रथम परमेश्वरका विश्वास और भरोसा करना मुख्य है और अब उपाय बताते हैं। भाव यह कि भगवान्‌का भरोसा रखकर उपाय करना चाहिये। पुनः, 'अब' का भाव कि अभी सुअवसर है, अभी मुनिके वचनोंका प्रभाव सबोंपर छाया हुआ है, अतः तत्सम्बन्धी शिक्षाका प्रभाव तुरत पड़ेगा, फिर तुम्हारा अथवा सुताका मत कोई फेर न दे।—'**शुभस्य शीघ्रम्**।' शुभकार्यमें देर न करना चाहिये। (पं०) पुनः भाव कि एक बात तो बता चुके कि शोच छोड़कर भगवान्‌का स्मरण करो, वे क्लेश हरेंगे; कल्याण करेंगे। अब दूसरी बात कहते हैं सो सुनो। (ख) '*जौं तुम्हहिं सुता पर नेहू*' का भाव कि यदि सत्य ही कहती हो कि '*उमा मम प्रान पिआरी*' '*जेहि न बहोरि होइ उर दाहू*', और यदि सत्य ही सुतापर तुम्हारा स्नेह है तो ऐसा करो जैसा मैं कहता हूँ। प्रियका जिसमें हित है उस साधनाका उपदेश उसे जी कड़ा करके देना चाहिये। ☞ पुत्रको पिता और कन्याको माता लौकिक व्यवहारकी शिक्षा देते हैं, इसीसे हिमवान् मेनाजीसे पार्वतीजीको शिक्षा देनेके लिये कहते हैं, नहीं तो स्वयं सिखावन देते।]

टिप्पणी—२ (क) '*करै सो तपु जेहि मिलहिं महेसू*।' इति। नारदजीका वचन है कि '*जौं तपु करै कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥ जद्यपि बर अनेक जग माहीं। एहि कहँ सिव तजि दूसर नाहीं॥*' अतएव कहते हैं कि '*करै सो तपु*......।'—[पुनः, '*सो तप*' का भाव कि नारदजी कह चुके हैं कि '*दुराराध्य पै अहहिं महेसू। आसुतोष पुनि किएँ कलेसू॥*' अर्थात् कठिन क्लेश करनेपर वे शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं, अतः वह ऐसा कठिन तप करे कि वे शीघ्र प्रसन्न हो जायँ। '*महेसू*' का भाव पूर्व लिखा जा चुका है। तात्पर्य कि वह शिवजीके लिये भारी कठिन तप करे, क्योंकि वे दुराराध्य हैं। (ख) '*आन उपाय न मिटिहि कलेसू*' इति। नारदजीने कहा है—'*इच्छित फल बिनु सिव अवराधें। लहिअ न कोटि जोग जप साधें॥*' तथा '*भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥*' इसीसे हिमाचल कहते हैं कि क्लेश मिटनेका एकमात्र उपाय यही है। भाव यह है कि तपसे शिवजीकी प्राप्ति हो जानेसे सब क्लेश आप ही मिट जायगा, अन्य किसी उपायसे तथा बिना शिवप्राप्तिके क्लेश नहीं मिटनेका। इसीसे '*जेहि मिलहिं महेसू*' कहा और '*आन उपाय न*' कहा।]

टिप्पणी—३ '*नारद बचन सगर्भ सहेतू*।......' इति। भाव भरा होनेसे '*सगर्भ*' कहा और उनके कहनेका यह कारण है, इससे '*सहेतू*' कहा। शिवजीका विवाह करना प्रकट न कहा, यह साभिप्राय है—[*सगर्भ*=गर्भसहित=भीतर कुछ और अर्थों और भावोंसे भरा हुआ। अर्थात् जैसे गर्भका बालक ऊपरसे दिखायी नहीं देता, वैसे ही मुनिके वचनोंमें जो अभिप्राय और हित भरा हुआ है, वह ऊपरसे नहीं समझ पड़ता। उनके वचन रहस्यपूर्ण हैं, गूढ़ अभिप्राययुक्त हैं।]

नोट—१ '*सहेतू*' का भाव कि 'ये वचन हमारे हितके सूचक हैं, शिवजीके सम्बन्धसे हमारा प्रताप बढ़ेगा, हमारी प्रशंसा होगी, कन्या भवानी होकर जगत्पूज्य हो जायगी और इस सम्बन्धसे हमलोग भी महिमाकी अवधि माने जायेंगे; यथा—'*महिमा अवधि राम पितु माता*।' इन वचनोंका आशय श्रेष्ठ है। (पं०)

नोट—२ '*सगर्भ सहेतू*' कहकर '*सुंदर सब गुन निधि बृषकेतू*' कहनेका भाव कि जो नारदजीने '*जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल बेष*' कहा है उन कुरूपतासूचक वचनोंके गर्भमें 'सुन्दरता' का आशय भरा है और जो '*अगुन अमान मातु पितु हीना। उदासीन सब संसय छीना॥*' कहा, उन अवगुणसूचक वचनोंमें 'सर्वगुणसम्पन्न' होनेका आशय गर्भित है। बैजनाथजी एवं रा० प्र० कार लिखते हैं कि 'जितने दोष नारदजीने गिनाये हैं वे अन्यत्र दोष हैं पर शिवजीमें वे गुण हैं। कदाचित् इसका

ब्याह शिवजीसे लिखा हो तो ठीक ही है, बिना उपाय भी सम्भव है; उसपर यदि उपाय भी किया गया तब तो फिर कहना ही क्या? और यदि शिवजीके साथ विवाह नहीं लिखा है तो उपाय करनेसे होगा। इसलिये दोनों प्रकारसे उपाय करना भला है। वे तो गुणखानि हैं, अवगुण तो ऊपरसे दिखावामात्र हैं, इसलिये '*सुन्दर*' कहा।

नोट—३ सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'हिमवान्‌ने पीछेसे नारदजीके प्रत्येक वचनपर ध्यान और विचार किया, इसीसे कहा कि '*नारद बचन सगर्भ सहेतू*' हैं। वचनोंके अन्तर्गत जो गर्भित आशय है वह पूर्व लिखे गये हैं। भूत-प्रेतादिके सङ्ग रहनेसे कोई यह न समझे कि वे अघोड़ी या बेधर्मी हैं, इसलिये 'वृषकेतु' विशेषण दिया।'

नोट—४ कोई-कोई '*सुंदर सब गुननिधि बृषकेतू*' को 'वचन' के ही विशेषण मानते हैं।

वि० त्रि०—'*सुंदर सब गुननिधि बृषकेतू*……' इति।' '**कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम्। बान्धवाः कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः॥**' कन्या रूपका वरण करती है इसलिये कहते हैं कि वृषकेतु सुन्दर हैं। पिता श्रुतका वरण करता है, इसलिये कहते हैं '*गुननिधि बृषकेतू*' माता वित्तका वरण करती है, इसलिये कहते हैं कि शङ्कर हैं, दूसरोंका कल्याण किया करते हैं, उन्हें वित्तका क्या घाटा है। बान्धव कुलकी इच्छा करते हैं, अतः कहते हैं '*सबहिं भाँति संकरु अकलंका*' इस भाँति घर-वर-कुलका अनूपत्व कहा।

अस बिचारि तुम्ह* तजहु असंका। सबहि भाँति† संकरु अकलंका॥ ४॥
सुनि पति बचन हरषि मन माहीं। गई‡ तुरत उठि गिरिजा पाहीं॥ ५॥

शब्दार्थ—असंका (सं० आशङ्का)=डर, संदेह, अनिष्टकी भावना। ☞ यह शब्द मानसकारने प्रायः 'झूठी शङ्का अर्थात् जहाँ कोई संदेह या भयकी बात नहीं है वहाँ संदेह, शङ्का, भय या अनिष्टकी भावना' के अर्थमें प्रयुक्त किया है। यथा—'*तदपि असंका कीन्हिहु सोई। कहत सुनत सबकर हित होई॥*' (१।११३)

अर्थ—ऐसा विचारकर तुम व्यर्थका सन्देह छोड़ दो। शिवजी सभी प्रकार कलंकरहित हैं॥ ४॥ पतिके वचन सुनकर मनमें प्रसन्न होकर मेनाजी उठकर तुरंत ही पार्वतीजीके पास गयीं॥ ५॥

नोट—१ '*अस बिचारि*' अर्थात् नारदवचन सगर्भ और सहेतु हैं, शिवजी सुन्दर हैं, गुणोंकी खानि हैं, धर्मकी ध्वजा हैं तथा सब प्रकार निष्कलङ्क हैं—यह विचारकर आशङ्का छोड़ो। 'आशङ्का' कहकर जनाया कि जहाँ कोई शङ्काकी, सोचकी बात ही नहीं है, वहाँ तुम शङ्का कर रही हो। तुम्हारी शङ्का निर्मूल है, मिथ्या है। २—'*सबहिं भाँति अकलंका*' अर्थात् '*अगुन अमान मातु पितु हीना*' इत्यादि कोई भी कलंक उनमें नहीं है। पुनः, '*सबहि भाँति*' अर्थात् लोक और वेद-शास्त्र-पुराणादि सभीके मतसे वे दोषरहित हैं। ३—☞ जैसे नारदजीने गिरिराजसे प्रथम यह कहकर कि '*जो बिधि लिखा लिलार*' उसे '*कोउ न मेटनिहार*' फिर उपाय भी बताया था; वैसे ही गिरिराजने भी मेनाजीसे प्रथम यह कहकर कि '*नारद बचन अन्यथा नाहीं*' फिर उपाय भी कहा कि '*करै सो तप जेहि मिलहिं महेसू।*' नारदजीने कहा था कि '*तदपि एक मैं कहौं उपाई। होइ करै जौं दैउ सहाई॥*' इसीसे उन्होंने प्रथम ही मेनाजीसे '*सुमिरहु श्रीभगवान*' अर्थात् श्रीभगवान्‌का स्मरण करनेको कहा, जिसमें वे सहायता करें और '*करै जौं दैउ सहाई*' की बात भी पूरी हो जाय। और मिलान पूर्व आ चुके हैं। ४—'नारदजीकी बातसे मेनाके मनमें जो शङ्का और भ्रम उत्पन्न हुए थे, हिमवान् सच्ची बात कहकर उन्हें दूर करनेका प्रयत्न करते हैं। यहाँ 'भ्रान्त्यापह्नुति अलंकार' की ध्वनि है।' (वीरकविजी)

* सब—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०। तुम्ह—१६६१, १७०४, को० रा०। † १६६१ में अनुस्वार नहीं है। ‡ गइ—१६६१।

टिप्पणी—१ (क) *'सुनि पति बचन हरषि मन माहीं। गईं……'* इति। पूर्व कहा था कि *'अस कहि परी चरन धरि सीसा।'* ७१ (७) और यहाँ लिखते हैं कि *'गईं तुरत उठि।'* इससे जनाया कि जब गिरिराज समझाने लगे तब वे उठकर बैठ गयी थीं, और अब बैठेसे उठकर गिरिजाके पास गयीं। मारे खुशीके 'तुरत' गयीं। नारदजीके वचन सुनकर दु:खित हुई थीं, अब पतिके वचन सुनकर मनमें हर्ष हुआ।—[यहाँ *'हरषि मन माहीं'* से दो बातें दिखायीं—एक तो पतिके वचनमें विश्वास होनेसे पातिव्रत्यधर्म और दूसरे यह कि आत्मजा-(कन्या-) को ऐसा पति मिलनेसे सुख होगा।' पुनः, *'हरषि मन माहीं'* मनका हर्ष कार्यसिद्धिका द्योतक है, यथा *'होइहि काजु मोहि हरष बिसेषी।'* (५। ४) मिलानका श्लोक—**'इत्याकर्ण्य गिरेर्वाक्यं मेना प्रीततराऽभवत्। सुतोपकण्ठमगमदुपदेष्टुं तपो रुचिम्।'** (शि० पु० २। ३। ९। १३)]

उमहि बिलोकि नयन भरे बारी। सहित सनेह गोद बैठारी॥ ६॥
बारहि बार लेति उर लाई। गदगद कंठ न कछु कहि जाई॥ ७॥

अर्थ—उमाको देखकर नेत्रोंमें जल भर आया। मेनाजीने प्रेमसहित उनको गोदमें बिठा लिया॥ ६॥ (मेनाजी उमाको) बारम्बार छातीसे लगा लेती हैं। उनका गला स्नेहके कारण भर आया, कुछ बोला नहीं जाता॥ ७॥

नोट—१ *'उमहि बिलोकि……'* इति। (क) माता तपश्चर्याकी शिक्षा देने गयीं परंतु कन्याको तपके योग्य न समझकर उनकी सुकुमारता देख वात्सल्य उमड़ आया, नेत्रोंमें जल भर आया, प्रेमाश्रु निकल ही पड़े। कन्या एक तो स्वभावसे ही सुकुमारी होती है, उसपर भी ये तो राजाकी कन्या हैं, इनकी सुकुमारताका क्या कहना? वे अति सुकुमारी हुआ ही चाहें—*'अति सुकुमार न तनु तप जोगू'* आगे ७४ (२) में कहा ही है। तपकी आज्ञा कैसे दें, यह सोचकर प्रेमके कारण विह्वल हो गयीं, आज्ञा न दे सकीं। (ख)—सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि *'उमहि बिलोकि नयन भरे बारी।'* यहाँ हृदय समुद्र है, आत्मजाका मुख चन्द्रमा है, उसे देखते ही हृदय-समुद्र उमड़ा, जिससे नेत्रोंमें जल भर आया। *'गोद बैठारी'* से हृदयने अपने पास बैठाया और प्राणप्यारी होनेसे *'बारहि बार लेति उर लाई'* से वह हृदयमें बैठा हुआ प्राण बार-बार हृदयके भीतर अपने पास रखनेके लिये हृदयमें लगा-लगाकर भीतर ले आनेका यत्न करता है। प्रेमजलके बहनेसे गला भर गया, कण्ठावरोध होनेसे मुँहसे बात नहीं निकलती—यह स्वभावोक्ति है।' (ग) *'सहित सनेह……'* यह नित्यका अनुभव लोकमें प्रत्यक्ष देखा जाता है कि ऐसी दशामें पुत्र एवं कन्यापर स्नेह अधिक उमड़ता है, माता उसे गोद लेती, प्यार करती है, इत्यादि। वही स्वाभाविक मेनाजी कर रही हैं।

नोट—२ *'बारहि बार लेति उर लाई……'* इति। गोदमें बिठाना और बारम्बार हृदयमें लगाना यह प्रेम-विह्वलदशा प्रकट कर रहा है। यथा—*'पुनि पुनि सीय गोद करि लेहीं'*, *'बार बार भेटहिं महतारीं'* इत्यादि। ☞मेनाजीका मन, कर्म, वचन तीनोंसे कन्यामें प्रेम दिखाया है। *'सुनि पतिबचन हरषि मन माहीं। गईं तुरत उठि……।'* से मनका प्रेम दिखाया। *'गोद बैठारी'*, *'बारहि बार लेति उर लाई'* और *'अस कहि परी चरन धरि सीसा'* यह कर्मसे प्रेम दिखाया। *'कंत उमा मम प्रान पिआरी'* तथा *'गदगद कंठ न कछु कहि जाई'* यह वचनका प्रेम दिखाया। ☞*'उमहि बिलोकि नयन भरे बारी।……गदगद कंठ……'* में मेनाजीके *'कंत उमा मम प्रान पिआरी'* और *'जौं तुम्हहि सुता पर नेहू'* इन वचनोंको ग्रन्थकारने प्रत्यक्ष कर दिखाया है। [विरहका ध्यान करके बार-बार हृदयसे लगाती हैं (वि० त्रि०)।]

नोट—३ मिलानके श्लोक—**'सुताङ्गं सुकुमारं हि दृष्ट्वातीवाथ मेनका। विव्यथे नेत्रयुग्मे चाश्रुपूर्णेऽभवतां द्रुतम्॥ सुतां समुपदेष्टुं तत्र शशाक गिरिप्रिया।'** (शि० पु० २। ३। ९। १४-१५)।

जगतमातु सर्बग्य भवानी। मातु सुखद बोलीं मृदु बानी॥ ८॥

दोहा—सुनहि मातु मैं दीख अस सपन सुनावौं तोहि।
सुंदर गौर सुबिप्रबर अस उपदेसेउ मोहि॥ ७२॥

अर्थ—जगज्जननी जगदम्बा और सर्वज्ञ भवानी माताको सुख देनेवाली कोमल मीठी वाणी बोलीं॥ ८॥ माँ! सुन। मैंने ऐसा स्वप्न देखा है, तुझे सुनाती हूँ। एक सुन्दर गौरवर्ण उत्तम श्रेष्ठ ब्राह्मणने मुझे ऐसा उपदेश दिया है॥ ७२॥

टिप्पणी—१ *'जगतमातु सर्बग्य भवानी।……'* इति। (क) ऐश्वर्यमें जो जगज्जननी हैं वे ही माधुर्य लिये हुए पुत्रीकी तरह मातासे बोलीं। सर्वज्ञ हैं अतः माताके हृदयका अभिप्राय जान गयीं कि वे किसलिये हमारे पास आयी हैं और क्यों कुछ कह नहीं सकतीं तथा यह कि वे प्रेमसे विह्वल हैं, तपके लिये आज्ञा न देंगी। भवानी हैं, अतः भवकी प्राप्तिके लिये बोलीं। पुनः भाव कि [(ख) मातासे कन्या अपने विवाहकी या वरकी चर्चा करे, यह योग्य नहीं है। इसीसे कहते हैं कि ये सामान्य कन्या नहीं हैं, ये तो जगज्जननी हैं, इनमें अयोग्यता नहीं कही जा सकती। उसपर भी ये 'भवानी' हैं अर्थात् ये तो *'सदा संभु अरधंगनिवासिनि'* हैं, इनका कुछ नया सम्बन्ध नहीं हो रहा है; इसीसे ये महादेवजीके लिये तप करनेकी बात कहेंगी, इस तरह वे शिवजीकी प्राप्तिका उपाय रच रही हैं। (पं० मा० प०) पुनः, (ग)—सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'नारदजीने जो तीन नाम 'उमा, अम्बिका, भवानी' पहले बताये हैं, वही तीनों नाम यहाँ ग्रन्थकारने भी रखे हैं। '**जगतमातु**'=अम्बिका, 'भवानी' दोनों जगह हैं। रहा तीसरा—'सर्वज्ञ', इससे 'उमा' नाम कहा; क्योंकि उमा=महादेवजीकी लक्ष्मी=सर्वज्ञा। अथवा सर्बग्य=शर्वज्ञ=शर्व-(=शिवजी-) को जाननेवाली।' 'सर्वज्ञ' शब्दमें 'परिकरांकुर अलंकार' की ध्वनि है।] (घ) *'मातु सुखद'* इति। अर्थात् जो माताके हृदयमें है, जो शिक्षा वे देने आयी हैं और जो वह चाहती हैं वही बात कोमल वाणीसे कही, जिससे माताको सुख हो और सुकुमारताका विचार उनके हृदयसे निकल जाय।

टिप्पणी—२ *'सुनहि मातु मैं दीख अस……'* इति। (क)—पार्वतीजीका माधुर्यमें स्वप्न देखना कहा। इसी तरह श्रीसीताजीका माधुर्यमें स्वप्न देखना अयोध्याकाण्डमें कहा है; यथा—*'जागे सीय सपन अस देखा।'* (२। २२६) (ख) 'सुन्दर' अर्थात् '**कर्पूरगौरम्**', '**शङ्खेन्द्वाभमतीव सुन्दरतनुम्**', '**कुंद इंदु दर गौर सुन्दरम्**' इत्यादि। **सुबिप्र**=उत्तम ब्राह्मण ['सुविप्रवर' से जनाया कि उपदेश देनेवाला वह ब्राह्मण शास्त्रज्ञ, सदाचारी और तेजस्वी इत्यादि है। ऐसेहीके वचनोंपर लोग श्रद्धा रखते हैं, इसीसे उपदेशकका 'सुविप्रवर' होना कहा। (सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि '**सुविप्र=सुष्ठु विप्रो द्विजश्चन्द्रो यस्य या सुष्ठु स्थाने शेखरे विप्रश्चन्द्रो यस्य स सुविप्रः**=चन्द्रशेखर। **बर**=वर=विवाहयोग्य युवा पुरुष। अर्थात् एक शङ्खके समान गौरवर्ण, मस्तकपर चन्द्रमा धारण किये, जवान पुरुषने मेरे पास आकर मुझे उपदेश दिया। **बिप्र**=द्विज=चन्द्र।' और सू० प्र० मिश्र कहते हैं कि 'सुविप्र' से नारदका भी ग्रहण हो सकता है।) ☞'सुविप्र' के साथ 'वर' शब्द बड़े रहस्यका है। इससे यह भी जनाया कि वह हमारा 'वर' ही है, जिसने स्वप्नमें दर्शन दिया।] (ग)—माताके मनका अभिप्राय जानकर स्वप्नके बहाने तात्पर्य सूचित करके उनके मनका असमंजस दूर करना 'सूक्ष्म अलंकार' है। (वीरकवि) परंतु बैजनाथजीका मत है कि यहाँ 'प्रहर्षण अलंकार' है; क्योंकि माता जिस लिये पास आयी, वह इन्होंने स्वयं सुना दिया।

वि० त्रि०—स्वप्नाध्यायीके अनुसार सुन्दर गौर सुविप्रवरका कहा हुआ सत्य होता है। *'सुनावौं तोहि'* का भाव कि उत्तम पुरुषसे ही स्वप्न सुनानेका विधान है। इससे ज्ञात होता है कि प्रातःकाल उठकर मैना पार्वतीजीके पास गयी थीं, हिमाचलसे बातचीत रातको एकान्तमें हुई थी।

नोट—१ मिलान कीजिये—'**बुबुधे पार्वती तद्वै जननीङ्गितमाशु सा॥ अथ सा कालिका देवी सर्वज्ञा परमेश्वरी। उवाच जननीं सद्यः समाश्वास्य पुनः पुनः॥ मातश्शृणु महाप्राज्ञेऽद्यतनेऽज मुहूर्तके। रात्रौ दृष्टो मया स्वप्नस्तं वदामि कृपां कुरु॥ विप्रश्चैव तपस्वी मां सदयः प्रीतिपूर्वकम्॥ उपादिदेश सुतपः कर्तुं मातश्शिवस्य वै॥**' (शिवपु० २। ३। ९। १५—१८)

करहि जाइ तपु सैलकुमारी। नारद कहा सो सत्य बिचारी॥ १॥
मातु पितहि पुनि यह मत भावा। तपु सुखप्रद दुख दोष नसावा॥ २॥

अर्थ—हे गिरिराजकुमारी! नारदजीने जो कहा है उसे सत्य समझकर जाकर तप कर॥ १॥ (यदि कहें कि माता-पिताकी आज्ञा बिना कैसे जा सकती हैं, तो उसपर कहते हैं कि तेरे) माता-पिताको भी यह मत (विचार) अच्छा लगा है। तप सुखका देनेवाला और दु:खदोषका नाशक है॥ २॥

टिप्पणी—१ '*करहि जाइ तपु सैलकुमारी।*……' इति। (क) स्वप्न जो सुविप्रवर-(रूप शिवजी-) ने आकर कहा वह पाँच अर्धालियोंमें है। '***करहि जाइ तपु***' यह उसका उपक्रम है और '***करहि जाइ तपु अस जिय जानी***' उपसंहार है। स्वप्नके सत्य होनेका क्या प्रमाण? क्योंकि स्वप्न तो विशेषकर झूठे भी होते हैं?—इस सम्भावित शङ्काके निवारणके लिये '***नारद कहा सो सत्य बिचारी***' कहा। स्वप्न नारदजीके वचनोंसे मिलता है, इसीसे आगे माता-पिताने उस स्वप्नको प्रमाण माना। (पुन:, जगदम्बा पिता-माताके हृदयकी ही बात कह रही हैं, इससे भी विश्वास होगा।) (ख) '***करहि जाइ***' इति। '***जाइ***' का भाव कि घर छोड़कर वनमें जाकर तप कर, घरमें तप न सधेगा; क्योंकि राजमहलमें रहते हुए विषयोंसे वैराग्य होना दुस्तर है; यथा—'***होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन।***' (१। १४२) यह मनु महाराजका अनुभव है। [(ग) '***सैलकुमारी***' का भाव कि 'तू ऐसेकी बेटी है कि जहाँ सभी तपस्या करनेको आते हैं, तब तू क्यों न तप कर?'—(सू० प्र० मिश्र) वा, 'सचमुच तू जड़की कन्या है, इसीसे तुझे अपना हित नहीं सूझता।'—'सु० द्विवेदी) वा, धैर्य धारण कर, तू शैलराज हिमवान्‌की कन्या है, अत: हिमवान्‌के समान धैर्य धारण करना चाहिये; यथा—'**धैर्येण हिमवानिव**' (वाल्मी० १। १७) (रा० प्र०) ☞वस्तुत: भाव यह है कि तुम पर्वतराजकी कन्या हो, अत: पर्वतसदृश दृढ़तासे जाकर तप कर सकती हो, डरनेका काम नहीं है। पुन:, ***सैलकुमारी***=शैलराजकी कन्या। माधुर्यमें ही उपदेश बनता है, इसीसे राजकुमारी कहकर उपदेश किया।] (घ) '***नारद कहा सो सत्य***……' इति। '***नारद कहा सो***' से '***अगुन अमान***' से लेकर '***हस्त असि रेख***' तक और मुख्य करके '***संभु सहज समरथ भगवाना***' से लेकर '***इच्छित फल बिनु सिव अवराधे।***……' तक जो कुछ कहा गया वही अभिप्रेत है।—इस वचनसे स्वप्नकी सत्यता दृढ़ करायी।

नोट—१ '***मातु पितहि पुनि यह मत भावा***' इति। भाव कि यदि कहो कि कन्या स्वतन्त्र नहीं है, विवाहके पूर्व वह माता-पिताके अधीन है, तब बिना उनकी आज्ञाके घरसे बाहर कैसे जाकर तप कर सकती है?—'**न हि स्त्रीणां स्वतन्त्रता**', '***कत बिधि सृजी नारि जग माहीं। पराधीन***……।' (१। १०२) तो उसपर कहते हैं कि तेरे माँ-बापका भी यही मत है, यही रुचि है। उनको यह मत पसंद है। प्रमाण यथा—'***अब जौं तुम्हहिं सुता पर नेहू। तौ अस जाइ सिखावन देहू॥***' यह पिताका मत है और यह मत माताको भी रुचता है। यह '***सुनि पति बचन हरषि मन माहीं। गई तुरत उठि गिरिजा पाहीं॥***' से सिद्ध है। पुन: माताके हृदयका संकोच मिटानेके अभिप्रायसे स्वप्नके मिष कहा कि '***मातु पितहि***……'। इससे '***सुंदर गौर सुबिप्रबर***' की सर्वज्ञता भी द्योतित हुई।

नोट—२ '***तपु सुखप्रद दुख दोष नसावा***' इति। (क) सुखप्रद है अर्थात् इससे तुझे सुख मिलेगा अर्थात् शिवप्राप्ति होगी और वरके दोष भी मिट जायँगे तथा जो वरके दोष सुनकर दम्पतिको दु:ख हुआ वह भी (अर्थात् कारण और कार्य दोनोंहीका) नाश हो जायगा। क्योंकि नारदवचन सत्य है कि '***भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी।***' (रा० प्र०, मा० प०)

'***तपु सुखप्रद दुख दोष नसावा***'—विप्रवरने स्वप्नमें इन शब्दोंसे गिरिजाजीको सान्त्वना दी कि तुमने जो पतिका अपमान करनेसे दु:ख पाया कि कैलाससे च्युत हो पुनर्जन्म लेना पड़ा, इत्यादि वह सब दोष और दु:ख तपसे धुल जायगा और तुम्हें पुन: पूर्वसुखकी प्राप्ति होगी। मेनाजी जो समझती हैं कि शङ्करजीमें

११ दोष हैं, उनसे विवाह होनेसे कन्याको सुख तो मिलेगा नहीं वरंच दुःख ही भोगना पड़ेगा, उनको यह स्वप्न सुनानेसे विश्वास होगा कि तपोबलसे वरके दोष भी गुण-समान हो जायँगे और दोष न रह जानेसे सुख होगा, दुःख रह ही न जायगा।

नोट—३ ☞यह और आगेका स्वप्नवृत्तान्त मानसका ही है। शिवपुराण आदिसे यह स्वप्न सरस है, भावगर्भित है, सुन्दर है।

तप बल रचै प्रपंचु बिधाता। तप बल बिष्नु सकल जगत्राता॥ ३॥
तप बल संभु करहिं संघारा। तप बल सेषु धरै महि भारा॥ ४॥
तप अधार सब सृष्टि भवानी। करहि जाइ तपु अस जिय जानी॥ ५॥

अर्थ—(देख) तपके ही बलसे ब्रह्माजी संसारको रचते हैं, तपबलसे ही भगवान् विष्णु सम्पूर्ण जगत्‌की रक्षा (पालन) करते हैं॥ ३॥ तपबलसे ही शिवजी संहार करते हैं और तपके ही बलसे शेषजी पृथ्वीका भार (अपने एक ही सिरपर) धारण करते हैं॥ ४॥ (अधिक क्या कहें) हे भवानी! सारी सृष्टि ही तपके आधार-(आश्रय, सहारे-) पर है। ऐसा जीमें जानकर जाकर तप कर॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'तप बल रचै प्रपंचु बिधाता।.......'* इति। ☞श्रीरामचन्द्रजीके भजनके बलसे तीनों देव (त्रिदेव) तीन काम करते हैं; यथा—*'जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥'* (५। २१ हनुमत्-वाक्य)। **प्रपंचु**=सृष्टि।=चौरासी लक्ष योनियाँ, इत्यादि। [भगवान्‌के नाभिकमलसे उत्पन्न होनेपर 'कैसे सृष्टि करूँ' इस बातको जाननेके लिये ब्रह्माजीने सैकड़ों दिव्यवर्षोंतक तप किया। प्रमाण यथा—'**विरिञ्चोऽपि तथा चक्रे दिव्यं वर्षशतं तपः।**' (भा०। ३। १०। ४) '**भूयस्त्वं तप आतिष्ठ विद्यां चैव मदाश्रयाम्। ताभ्यामन्तर्हृदि ब्रह्मन् लोकान् द्रक्ष्यस्यपावृतान्॥**' (भा० ३।९।३०)—(भगवान्‌ने उनको पुनः तप करनेकी आज्ञा दी जिससे वे सम्पूर्ण लोकोंको अपने अन्तःकरणमें स्पष्ट देख सकें और वैसी ही सृष्टि रचें।) श्रीसीतारामार्चनमें भी इसकी चर्चा है। पुनश्च यथा—'**सोऽसृजत्तपसा युक्तो रजसा मदनुग्रहात्। लोकान्सपालान्विश्वात्मा भूर्भुवः स्वरिति त्रिधा॥**' (भा० ११। २४। ११) (अर्थात् ब्रह्माने तपस्या की और रजोगुणद्वारा लोकपालोंसहित तीनों लोकोंकी रचना की।) भा० २। ९ में लिखा हुआ है कि ब्रह्मा कमलनाभिसे उत्पन्न हो लोकरचनाका विचार करने लगे परन्तु प्रपञ्चरचनाकी विधिका ज्ञान न हुआ। उन्हें अकस्मात् 'तप' शब्द सुनायी पड़ा। तब वे तपमें प्रवृत्त हुए और एक सहस्र दिव्यवर्षोंपर्यन्त एकाग्रचित्तसे प्राण, मन और इन्द्रियोंको जीतकर घोर तप किया। यथा—'**स आदिदेवो.......नाध्यगच्छद् दृशमत्र सम्मतां प्रपञ्चनिर्माणविधिर्यया भवेत्॥** (५).......**दिव्यं सहस्राब्दममोघदर्शनो जितानिलात्मा विजितोभयेन्द्रियः। अतप्यत स्माखिललोकतापनं तपस्तपीयांस्तपतां समाहितः॥**' (८) भगवान् विष्णु भी तपबलसे पालन करते हैं; यथा—'**सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुनः। बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुस्तरं तपः॥**' (२३) अर्थात् तपसे ही मैं संसारकी उत्पत्ति करता हूँ; तपसे ही उसे ग्रास कर लेता हूँ और तपसे ही उसका पालन करता हूँ, दुस्तर तप ही मेरा वीर्य (बल) है। काशीखण्ड अ० २४ में भी त्रिदेवादिके विषयमें ऐसा ही कहा है। ☞जैसा यहाँ सुविप्रवरने कहा है वैसा ही कपटी मुनिने भानुप्रतापसे कहा है। यथा—*'जनि आचरज करहु मन माहीं। सुत तप तें दुर्लभ कछु नाहीं॥ तप बल तें जग सृजइ बिधाता। तप बल बिष्नु भए परित्राता॥ तप बल संभु करहिं संघारा। तप तें अगम न कछु संसारा॥'* (१। १६३)]

टिप्पणी—२ *'तप बल सेषु धरै महि भारा'* इति। शेषजीको भगवान् रामजीके बलसे यह सामर्थ्य है। यथा—*'जा बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि कानन॥'* विधि-हरि-हर-शेष बड़े-बड़े महानुभावोंकी बातका कथन 'शब्द-प्रमाण' अलंकार है।

टिप्पणी—३ *'तप अधार सब सृष्टि भवानी'* इति। (क) भाव कि जिन-जिनको ऊपर कह आये कि सृष्टिको उत्पन्न, पालन, संहार और धारण करते हैं, वे सब तपके ही आधारसे करते हैं; तपके ही आधारपर

सारी सृष्टि चल रही है, तप न होता तो वह एक क्षण न ठहर सकती। सबके तपके आधारसे सृष्टिका कार्य चल रहा है। भौतिक बलसे यह कोई कार्य नहीं हो सकता।

नोट—१ पहले बिधि-हरि-हर और शेषका बल कहा कि उनमें तपका ही बल है और *'तप अधार......'* में सृष्टिका तपके आधारसे चलना कहा। पुनः भाव कि तपसे कोई बात दुर्लभ नहीं है, अतः तू भी तप कर। *'तप अधार सब सृष्टि'* इस नियमका तुम भी पालन करके *'भवानी'* बन जाओ। २—*'भवानी'* सम्बोधनका भाव कि तुम तो भवपत्नी हो, सब जानती ही हो। (रा० प्र०) ३—☞अन्तमें *'भवानी'* सम्बोधन 'सुविप्रवर' का मानो पार्वतीजीको आशीर्वाद ही है कि तपके पश्चात् तुम भवपत्नी होगी। ४—सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि *'भवानी*=भव+आनी=संसारमें लायी गयी।' जिसका अभिप्राय यह जान पड़ता है कि तुम संसारमें हरि-इच्छासे लायी गयी हो और संसारमें तपका ही आधार सबने लिया है, जिनको तुम चाहती हो वे भी तो तप करते हैं, अतएव तुम भी तपद्वारा पतिकी प्राप्ति करो।

सुनत बचन बिसमित महतारी। सपन सुनाएउ गिरिहि हँकारी॥ ६॥
मातु पितहि बहु बिधि समुझाई। चलीं उमा तप हित हरषाई॥ ७॥
प्रिय परिवार पिता अरु माता। भए* बिकल मुख आव न बाता॥ ८॥

अर्थ—श्रीपार्वतीजीके वचन सुनते ही माँको आश्चर्य हुआ और उसने हिमवान्‌को बुलाकर स्वप्न सुनाया॥ ६॥ माता-पिताको बहुत प्रकारसे समझाकर उमाजी प्रसन्नतापूर्वक तपके लिये चलीं॥ ७॥ प्रिय, कुटुम्बी, पिता और माता (सभी) व्याकुल हो गये; किसीके मुखसे बात नहीं निकलती॥ ८॥

नोट—१ *'सुनत बचन बिसमित महतारी।......'* इति। (क) आश्चर्य हुआ, क्योंकि जो नारदजीने कहा था—*'जौं तपु करै कुमारि तुम्हारी।......'*, वही स्वप्नमें भी कहा गया और जो हमलोगोंका सम्मत था वह भी यह कह रही है, यह तो उसकी जानी हुई न थी। (पं० रा० कु०) (ख) 'हँकारी'=बुलाकर, पुकारकर। यह शब्द आनन्दका द्योतक है। भाव यह कि जिस लिये आपने हमें भेजा था, वह कार्य दैवी विधानसे आप-ही-आप ठीक हो गया। सब काम ठीक है, आश्चर्यकी जो बात हुई सो आप भी सुन लें। (सू० प्र० मिश्र) सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'आश्चर्यमें होनेसे लोग पुकारकर बोलते ही हैं। अतः 'हँकारी', यह स्वभावोक्ति है'। 'हँकारी' शब्दसे जनाया कि जहाँ पार्वतीजी थीं वहीं बुला भेजा, क्योंकि यहाँ लड़की भी है। सम्भव है कि बुलाकर स्वप्न कहा और उसके सामने ही यह भी कहा कि पूछो यह क्या कह रही है। इससे पतिके पास स्वयं नहीं गयी, उन्हींको बुलाया।

नोट—२ *'मातु पितहि बहु बिधि समुझाई'* इति। (क) *'बहु बिधि'* यह कि नारद-वचन असत्य नहीं हो सकता; ब्राह्मणदेवने भी स्वप्नमें वही बात पुष्ट की; स्वप्नमें उन्होंने कहा कि तुम्हारा भी सम्मत है, सो भी ठीक निकला, तपश्चर्यासे दुःखदोष मिटेंगे और कल्याण होगा और मुनिके शुभाशीर्वादसे कोई कष्ट न होगा, मैं प्रसन्नता और श्रद्धापूर्वक तपश्चर्या करनेपर तत्पर हूँ। ध्रुव आदिकी कथाएँ सुनायीं कि उनकी अवस्था तो मुझसे भी कम थी, हमारे मनमें हर्ष है इससे कार्यसिद्धिमें संदेह नहीं है। आप दुःख न मानिये, यात्राके समय शुभकार्यमें अश्रुपात न करना चाहिये, मैं शीघ्र ही आऊँगी, कुछ दूर तो रहूँगी नहीं, तब आप क्यों घबड़ाते हैं, इत्यादि। (ख) बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि वे सब विधियाँ ये हैं कि 'स्वप्नमें जो बात कही गयी वह सत्य है, आगे वेदशिरा मुनि भी तुम्हें समझाने आवेंगे, उनकी बातको सत्य जान निःशोच होना ठीक है।—यह 'एक विधि' हुई।......अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष—ये चार फल हैं। इनकी पृथक्-पृथक् चार क्रियाएँ हैं। अर्थकी क्रिया सेवा, धर्मकी श्रद्धा, कामकी तप और मोक्षकी भक्ति है। बिना तपके कोई कार्य सिद्ध नहीं होता, अतः तप करना निश्चय ही ठीक है।—यह 'तीसरी विधि' है।......ब्रह्माजी मुझसे प्रथम ही कह गये थे कि 'माता-पिताने तुम्हारे लिये बहुत तप किया था, तब तुम उनको मिली हो शिवारूप'—(अर्थात्

* भएउ—१७२१, १७६२। भए—१६६१, १७०४, को० रा०।

शिवारूपसे तुमने उनको दर्शन दिया था, वही अब तुमने यहाँ जन्म लिया है।) सो तुम भी ऐसा ही तप करो तब शिवजी मिलेंगे। तुम कालीरूप धरकर प्रकट हुई हो सो अब गौरीरूप धारण करो तब ठीक है। ब्रह्माजी जगद्गुरु हैं, सो उन्होंने तुम्हें प्रथम ही तपका उपदेश किया है, अतएव निश्चय ही तप करना उचित है।—यह प्रसङ्ग शिवपुराणमें लिखा है।—यह 'पाँचवीं विधि' है।

नोट—३ *'चलीं उमा तप हित हरषाई'* इति। यात्रासमय हर्ष मङ्गलकारक है। पतिकी प्राप्तिके लिये तप करने जाती हैं, अतः हर्ष है। धर्मके कार्यमें हर्ष और उत्साह होने ही चाहिये। सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि *'दुख दंपतिहि उमा हरषानी' 'मिलन कठिन मन भा संदेहू' 'जानि कुअवसरु प्रीति दुराई'* (६८)...... यह सब बातें अकेले वनमें रहनेसे निकल जायँगी तब अच्छी तरहसे पतिपदमें प्रीति करूँगी। पतिने मेरे वियोगमें *'संवत सहस सतासी'* की समाधि ली थी, मैं उनके लिये अब हठयोग साधन करूँगी, इत्यादि समझ मनोरथकी सिद्धिकी आशामें पार्वतीजी प्रसन्न हुईं।'

नोट—४ (क) *'उमा'* इति। यहाँ 'उमा' नाम भी साभिप्राय है। ☞पद्मपुराण-सृष्टिखण्डमें पार्वतीजीके तप करने जानेका प्रसङ्ग कामदहनके पश्चात् आता है। हिमवान् अपनी कन्याको वस्त्राभूषणोंसे भूषितकर उसकी दो सखियोंके साथ भगवान् शङ्करके समीप ले आ रहे थे। मार्गमें रतिसे मदनदहनका समाचार सुनकर उनके मनमें कुछ भय हुआ और वे कन्याको लेकर पुरीमें लौट जानेका विचार करते हैं—यह देख पार्वतीजीने सखियोंके मुखसे तपकी महिमा कहलायी और यह भी कहलाया कि अपना अभीष्ट प्राप्त करनेके लिये मैं तप करूँगी। तब हिमवान्‌ने कहा 'उ-मा'—ऐसा न कर। बहुत कहनेपर भी जब पार्वतीजी घर जानेको तैयार न हुईं, तब मन-ही-मन उन्होंने पुत्रीके दृढ़ निश्चयकी प्रशंसा की। उसी समय आकाशवाणी हुई—'गिरिराज! तुमने 'उ' 'मा' कहकर अपनी पुत्रीको तपस्या करनेसे रोका, इसलिये इसका नाम 'उमा' होगा। यह मूर्तिमती सिद्धि है, अभीष्ट अवश्य प्राप्त करेगी। यह सुन हिमवान्‌ने आज्ञा दे दी। ☞यद्यपि यह कथा कल्पभेदसे कुछ भिन्न है तो भी *'बहु बिधि समुझाई'* से यह ध्वनित हो सकता है कि माता-पिताने वियोगके कारण विकल हो वन जानेसे रोका हो और इसीसे 'उमा' शब्द देकर उस कथाका अन्तिम अंश यहाँ सूचित कर दिया है। ☞शिवपुराणमें भी मेनाका बहुत प्रकारसे बाहर तप करने जानेका निषेध करना कहा है। इसीसे 'उमा' नाम हुआ। यथा—'**तपो निषिद्धा तपसे वनं गन्तुं च मेनया। हेतुना तेन सोमेति नाम प्राप शिवा तदा॥**' (शिवपु० २।३।२२।२५) कुमारसम्भवमें भी कहा है—'**उमेऽति मात्रा तपसो निषिद्धा पश्चादुमाख्या सुमुखी जगाम।**' (१। २६) (ख) तपस्या महा उत्तम शृङ्गी तीर्थपर करने गयीं। तभीसे उसका नाम गौरीशिखर पड़ा। यथा—'**तपश्चकार सा तत्र शृङ्गितीर्थे महोत्तमे। गौरीशिखरनामासीत्तत्तपः करणाद्धि तत्॥**' (२। ३। २२। ३६) (ग) हर्षका कारण देववाणी भी हो सकती है।

नोट—५ *'प्रिय परिवार पिता अरु माता। भए बिकल......'* इति। सुकुमारता देख व्याकुल हुए। नारदजीके—*'सुता तुम्हारि सकल गुन खानी'* और *'एहि तें जसु पैहहिं पितु माता'* इत्यादि वचनोंसे वे इन्हें 'लक्ष्मी ही मानो घरमें पैदा हुई' ऐसा समझने लगे थे, इसीसे इनका वियोगदुःख दुःसह है, यह समझकर लोग व्याकुल हो गये।'—(सुधाकर द्विवेदी) *'मुख आव न बाता'* अर्थात् न तो जानेको कहते बनता है और न रहनेको ही कहते बने। (पं० रा० कु०) व्याकुलतामें भी यह दशा हो जाती है।

दोहा—बेदसिरा मुनि आइ तब सबहि कहा समुझाइ।
पारबती महिमा सुनत रहे प्रबोधहि पाइ॥ ७३॥

अर्थ—तब वेदशिरा मुनिने आकर सबको समझाकर (पार्वतीजीका महत्त्व) कहा। पार्वतीजीकी महिमा सुनकर सब प्रबोध (ज्ञान, संतोष वा समाधान) पाकर रह गये॥ ७३॥

नोट—१ माधुर्यमें विकलता रही इसीसे मुनिने आकर ऐश्वर्य कहा, तब ज्ञान हुआ। नोट—२ ☞'वेदशिरा' इति। ये मुनि कौन हैं?—इसपर लोगोंके विभिन्न मत हैं। सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि—'चार

शिखावाले ब्रह्माजी जो मुनिरूपसे पार्वतीजीका बालचरित देखनेके लिये हिमालयपर आ बसे थे, उनका नाम 'वेदशिरा' है। बहुत-से लोग पुराणोंके कर्त्ता व्यासका ग्रहण 'वेदशिरा' से करते हैं।' सू० प्र० मिश्रजीका कथन है कि—'पुराणोंमें वेदशिराके बदले वेददर्श तथा देवदर्श नाम मिलता है। ये महर्षि कबन्धके शिष्य थे, जिनके गुरु अथर्वणवेदके आचार्य महर्षि सुमन्तु थे। वेदशिराने अपनी संहिताके चार विभाग करके मौद्र आदि चार महर्षियोंको पढ़ाया।'—(विष्णु पु० अंश ३ अ० ७। ८। १०, भा० १२। ७। १-२) पर इनमें क्रमशः वेददर्श और देवदर्श नाम मिलते हैं। वेदशिरा और वेददर्श वा देवदर्श एक ही हैं, इसका क्या प्रमाण है?)। जो मुनि हिमालयपर रहते थे, *'जहँ तहँ मुनिन्ह सुआश्रम कीन्हें। उचित बास हिमभूधर दीन्हें॥'* (६५) से यह बात ठीक हो सकती है कि उनमेंसे ये भी एक हों। कार्त्तिकमाहात्म्यमें ऐसा उल्लेख कहा जाता है कि इनके तपको देखकर इन्द्रने इनका तप भङ्ग करनेके लिये अप्सरा भेजी। जब उस अप्सराके समस्त उपाय निष्फल हो गये, कोई भी उपाय न चला तब वह उनके अङ्गमें जाकर लिपट गयी। मुनिने उसको शाप दिया कि तू जल हो जा। फिर उसके बहुत विनय करनेपर उसका शापानुग्रह इस प्रकार किया कि तुझमें शालग्राम निवास करेंगे। (परन्तु हमें यह कथा कार्त्तिकमाहात्म्यमें मिली नहीं) हिंदी-शब्दसागरमें 'वेदशिरा' के ये अर्थ मिलते हैं—(१) भागवतके अनुसार कृशाश्वके एक पुत्रका नाम। (२)—(वेदशिरस) पुराणानुसार मार्कण्डेयजीके एक पुत्रका नाम जो मूर्द्धन्याके गर्भसे उत्पन्न हुआ था। कहते हैं कि भार्गवलोगोंका मूलपुरुष वही था।

☞ग्रन्थोंमें खोजते-खोजते हमें 'मुनिश्रेष्ठ वेदशिरा' नाम भा० ४। १ में मिला। ये भृगुजीके प्रपौत्र हैं। भृगुजीके तीन पुत्र धाता, विधाता और कवि हुए। धाताके मृकण्ड हुए जिनके पुत्र मार्कण्डेयजी हैं। विधाताके प्राण और प्राणके पुत्र 'वेदशिरा मुनि' हुए। यथा—'**मार्कण्डेयो मृकण्डस्य प्राणाद्वेदशिरामुनिः।**' (४। १। ४५)

नोट—३ *'सबहि कहा समुझाइ'* इति। बाबा हरिदासजी समझाना यह लिखते हैं कि ये उद्भवस्थितिलय करनेवाली कालका भी कालरूप काली हैं, काल भी इनके अधीन है। पूर्व कालीरूपसे प्रकट हुई थीं, वही अब गौरीरूप धरकर तुम्हारे यहाँ अवतरी हैं। कौन ऐसा समर्थ है जो वनमें इनको कष्ट दे सके? भगवतीकी ही प्रेरणासे तुम्हें हम उनकी महिमा समझाने आये हैं।' (वेदशिरा मुनिने खोलकर यह नहीं बताया कि ये सती हैं और ये शिवजीकी आद्याशक्ति हैं।)

'रहे प्रबोधहि पाइ' से पाया जाता है कि वे सब-के-सब पार्वतीजीके पीछे-पीछे चले जाते थे। इनके समझानेपर रुके। समाधान एवं ज्ञान पाकर शान्त हो गये। मिलान कीजिये—*'समुझाइ सबहिं दृढ़ाइ मन, पितु मातु आयसु पाइ कै। लागी करन पुनि अगमु तपु तुलसी कहै किमि गाइ कै॥ फिरेउ मातु पितु परिजन लगि गिरिजा पन। जेहि अनुरागु लागु चितु, सोइ हितु आपन॥'* (पार्वतीमंगल २०-२१)

उर धरि उमा प्रानपति चरना। जाइ बिपिन लागीं तपु करना॥१॥
अति सुकुमार न तनु तप जोगू। पति पद सुमिरि तजेउ सबु भोगू॥२॥
नित नव चरन उपज अनुरागा। बिसरी देह तपहि मनु लागा॥३॥

अर्थ—प्राणपति-(श्रीशिवजी-) के चरणोंको हृदयमें धारणकर उमाजी वनमें जाकर तप करने लगीं॥१॥ उनका शरीर अत्यन्त सुकुमार (नाजुक, कोमल) है, तपके योग्य नहीं है, (तो भी) उन्होंने पतिके चरणोंका स्मरण कर सब भोगोंको त्याग दिया॥२॥ (पतिके) चरणोंमें नित्य नया अनुराग उत्पन्न होता गया, तपमें मन लग गया, देहकी सुध-बुध जाती रही॥३॥

टिप्पणी—१ *'उर धरि उमा प्रानपति······'* इति। (क)—सतीजीका शिवजीके चरणोंमें सदा अनुराग रहा; यथा—*'जौं मोरें सिवचरन सनेहू। मन क्रम बचन सत्य ब्रतु एहू।'* (५९) *'जाइ संभुपद बंदनु कीन्हा'* (६०) और मरते समय भी *'जनम जनम सिवपद अनुरागा'* यही वर उन्होंने भगवान्से माँगा

था। अतएव पार्वतीतनमें भी *'उपजेउ शिवपद कमल सनेहू'* (६८) अब उनके लिये वनमें तप करनेको चलीं, तब भी उन्हींके चरणोंको हृदयमें धारण करके चलीं और आगे भी चरणोंका स्मरण कर सब भोग छोड़ा है। पुनः (ख) *'प्रानपति चरना'* का भाव कि वनमें छोटे बालकोंके प्राणोंकी बाधा रहती है, इसीसे *'प्राणपति'* (प्राणोंकी रक्षा करनेवाले) चरणोंका धारण करना कहा। तात्पर्य कि ये ही चरण हमारे प्राणोंकी रक्षा करेंगे।

नोट—१ *'पति'* का अर्थ *'रक्षक'* भी है और *'स्वामी'* भी। यहाँ *'प्रानपति'* और आगेके *'पति पद'* शब्दोंसे सूचित किया कि शिवजी ही हमारे पति हैं, इनकी प्राप्तिका मानो यह दृढ़ संकल्प करके तपमें प्रवृत्त हुईं। सतीतन-त्यागसमय भी इन्हीं चरणोंका ध्यान था। यथा—**'ततः स्वभर्तुश्चरणाम्बुजासवं जगद्गुरोश्चिन्तयती न चापरम्।'** (भा० ४। ५) अर्थात् वे बैठकर—समाधि लगाकर अपने पतिके चरणकमलोंका चिन्तन करने लगीं। ☞चरण हृदयमें रखनेका भाव यह है कि गुरुजनोंके चरणोंकी पूजा होती है। दास्यभावमें चरणोंसे ही देवताके रूपका वर्णन हुआ करता है, चरणोंकी आरती भी चार होती है; और अङ्गोंकी एक-एक होती है, क्योंकि चरणके अधिकारी सब हैं। लोकरीति भी है कि अपराध क्षमा करानेके लिये चरण ही पकड़े जाते हैं, सतीतनमें जो अपराध हुआ था वह यही क्षमा करायेंगे। पुनः नोट २—सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि प्राणपतिसे ग्रन्थकारने पार्वतीजीका शिवजीमें अनन्य अनुराग दिखाया। अनुरागके लिये वनमें गयीं जहाँ अब केवल प्राणपतिका ध्यान है। इसलिये उमा (शिवजीकी लक्ष्मी) यह नाम अब उचित ही है।—[अथवा, माता-पिताके रोकनेपर भी आयी हैं और इसीसे यह नाम पड़ गया जैसा पूर्व लिखा गया, इसीसे यहाँ भी *'उमा'* ही नाम दिया गया।] पुनः नोट ३—सू० प्र० मिश्रजी चरणोंको हृदयमें धारण करनेका भाव यह लिखते हैं कि 'जहाँ चरण रहता है वहाँ शरीर भी रहता है। अर्थात् **'नामैकदेशे नामग्रहणम्'** इस न्यायसे शङ्करजीको हृदयमें रखकर तप करना आरम्भ किया। दूसरी बात यह है कि देवताओंके रूपका वर्णन पैरसे और मनुष्योंका केशसे होता है। अतएव चरणोंको हृदयमें धरकर तप करना आरम्भ किया।'......पुनः, *'चरण'* का अर्थ आचरण भी है। अर्थात् प्राणपतिको जो आचरण (अर्थात् तप) अत्यन्त प्रिय था उसे स्वयं करने लगीं।

प० प० प्र० कहते हैं कि यहाँ पतिके चरणोंका ध्यान करना ही तपका प्रधान अङ्ग है। ध्यानकी दृढ़ताके लिये ही आगे आहार-नियन्त्रणरूपी तपका उल्लेख है। आहार-नियन्त्रण या आहार-त्याग मुख्य तप नहीं है। पति-पद-ध्यान ही मुख्य है, इससे उसका उल्लेख प्रथम किया है।

वि० त्रि०—'प्राणपति' कहकर दुष्कर तपकी सुकरता दिखलायी। प्राणपतिके लिये दुष्कर कुछ भी नहीं है। इसीसे एकाग्रता भी सूचित की।

नोट ४—*'जाइ बिपिन'* इति। पद्मपुराणमें लिखा है कि वे हिमालयके उस प्रदेशमें गयीं जहाँ देवताओंका भी पहुँचना कठिन था। वहाँका शिखर परम पवित्र और नाना प्रकारकी धातुओंसे विभूषित था। सब ओर दिव्य पुष्प और लताएँ फैली हुई थीं, वृक्षोंपर भ्रमर गुञ्जार कर रहे थे। (७३। ६—८) नोट ४ देखिये।

नोट—५ *'अति सुकुमार......'* इति। (क) बाल्यावस्था होनेसे *'अति सुकुमार'* कहा। अनन्यानुरागका यही लक्षण है कि मनुष्य सामर्थ्यसे बाहरका काम करता है। अति कोमल शरीरसे कठिन तपश्चर्या करती हैं, यह सामर्थ्यसे बाहरका काम है। (ख) द्विवेदीजी लिखते हैं कि **'पति पद'**=पतिके चरण। वा, पति-पद=पतिका स्थान कैलास। 'पति-पद' को स्मरणकर कि पतिके संगसे जो कैलासमें सुख था उसके आगे यह सांसारिक भोगसुख तुच्छ है, यह समझकर उस अपूर्व सुखके लिये साधारण सुखको छोड़ दिया। ज्यों-ज्यों तपसे सांसारिक अनुराग छूटता जाता है त्यों-त्यों नित्य नया-नया अनुराग बढ़ता जाता है। कहावत प्रसिद्ध है—*'ज्यों-ज्यों भीजै कामरी त्यों-त्यों भारी होय।'* (मा० प०) पद्मपुराणमें लिखा है कि वनमें जाकर उन्होंने अपने सब वस्त्र और आभूषण उतार डाले और दिव्य वल्कल धारण कर लिये, कटिमें कुशोंकी मेखला पहन ली—यह सब भी *'तजेउ सब भोगा'* में आ गया। प्राणपतिके स्मरणमें जो सुख है, उसके सामने समस्त भोग तुच्छ हैं।

टिप्पणी—२ *'नित नव चरन उपज अनुरागा'* इति। ☞पार्वतीजी मन-कर्म-वचनसे शिवजीके चरणकमलोंमें तत्पर हैं। पतिके चरणोंको उन्होंने हृदयमें धारण किया, यथा—*'उर धरि उमा प्रानपति चरना'*, जिह्वासे स्मरण करती हैं, यथा—*'पति पद सुमिरि तजेउ सब भोगू'* और मनमें अनुराग हुआ, यथा—*'नित नव चरन उपज अनुरागा।'*

टिप्पणी—३ *'बिसरी देह तपहि मनु लागा'* इति। मन लगनेपर देहकी सुध नहीं रह जाती, यथा—*'मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही।'* ☞यहाँ क्रमसे, पहले नारद-पदपंकजमें प्रणाम हुआ फिर उनके उपदेशसे तप हुआ, तब सब भोगोंका त्याग होनेपर नित्य नवीन अनुराग हुआ। यही भक्तिका क्रम है; यथा—*'प्रथमहिं बिप्रचरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥ एहि कर फल मन बिषय बिरागा। तब मम चरन (धरम) उपज अनुरागा॥'*—(पं० रा० कु०)

सू० प्र० मिश्रजी—*'बिसरी देह……'* में प्रमाण **'तदानपेक्ष्य स्वशरीरमार्दवं तपो महत्सा चरितुं प्रचक्रमे'** (कुमारसम्भव ५। १८) यह शास्त्रका सिद्धान्त है कि जब कोई अनुष्ठान किया जाय और उसकी शान्ति अर्थात् उद्यापन न किया जाय तबतक वह सफल नहीं होता। इस शास्त्रकी मर्यादाका पालन पार्वतीजीने पूरी तौरपर किया है। जैसा आगे कहते हैं।

नोट—६ तपका प्रकरण पार्वतीमंगलके तपके प्रकरणसे मिलाने योग्य है, मिलानसे मानसके तप-प्रकरणके भाव स्पष्ट समझमें आ जायँगे—

'तजेउ भोग जिमि रोग लोग अहिगन जनु। मुनि मनसहु तें अगम तपहि लायो मनु॥ २१॥'
'सकुचहि बसन बिभूषन परसत जो बपु। तेहि सरीर हर-हेतु अरंभेउ बड़ तपु॥'
(यहाँतक *'अतिसुकुमार न तन तप जोगू।……भोगू'* का भाव हुआ।')
'पूजहि शिवहि समय तिहुँ करहि निमज्जन। देखि प्रेमु ब्रतु नेमु सराहहिं सज्जन॥ २२॥'
नींद न भूख पियास सरिस निसि बासरु। नयन नीरु मुख नाम पुलक तनु हिय हरु॥
(यहाँतक *'नित नव चरन उपज अनुरागा।'* का भाव हुआ।)
'कंद मूल फल असन कबहुँ जल पवनहिं। सूखे बेल के पात खात दिन गवनहिं॥ २३॥'
नाम अपरना भयो परन जब परिहरे। नवल धवल कल कीरति सकल भुवन भरे॥
देखि सराहहिं गिरिजहिं मुनिबर मुनि बहु। अस तपु सुना न दीख कबहुँ काहू कहुँ॥
काहू न देख्यो कहहिं यह तपु जोगु भल फल चारिका।
नहिं जानि जाइ न कहति चाहति काहि कुधर कुमारिका॥ (यह तपका प्रकरण है।)

संबत सहस मूल फल खाए। सागु खाइ सत बरष गवाँए॥ ४॥
कछु दिन भोजन बारि बतासा। किए कठिन कछु दिन उपबासा॥ ५॥
बेलपाती* महि परै सुखाई। तीनि सहस संबत सोइ खाई॥ ६॥
पुनि परिहरे सुखानेउ परना। उमहि नाम तब भएउ अपरना॥ ७॥

शब्दार्थ—*मूल*=जड़=खानेयोग्य मीठी-मीठी जड़ें। 'मूल' कन्द, शकरकन्द, बेदारीकन्द आदि फलाहारकी संज्ञा है=कन्दमूल; यथा—*'करहिं अहार साक फल कंदा।'* (१। १४४) फल=वनस्पतिमें होनेवाला वह पोषक द्रव्य या गूदेसे परिपूर्ण बीजकोश जो किसी विशिष्ट ऋतुमें फूलोंके आनेके बाद उत्पन्न होता है। फल संज्ञा उनकी है जो पृथ्वीके ऊपर वृक्षोंमें हों। इनके अनेक भेद हैं। कुछमें केवल एक ही बीज या

* बेलपाति—१७२१, १७६२, छ०। बेलपात—को० रा०। बेलपाती—१६६१, १७०४। 'बेलपाती' का 'बे' पाठ करते समय ह्रस्व पढ़ा जायगा; एक ही मात्रा मानी जायगी; जैसे 'जेहि' के 'जे' में सर्वत्र एक ही मात्रा मानी गयी है।

गुठली रहती है, कुछमें अनेक। कुछके ऊपर बहुत ही मुलायम छिलका रहता है और कुछपर बहुत कड़ा या काँटेदार रहता है। **सागु** (साग, सं० शाक)=पौधोंकी खानेयोग्य पत्तियाँ। इसमें प्रायः पत्ते ही रहते हैं। विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि शाक छः प्रकारके होते हैं।—पत्ते, फूल, फल, डंडी, कन्द और नये-नये अंकुर। **बतासा**=पवन, हवा। यह शब्द ग्रामीण भाषाका है, बाँदा-प्रान्तमें बोलते हुए मैंने सुना है। सम्भव है कि यह 'बात' का अपभ्रंश हो। विनायकी टीकाकार ***'बारि बतासा'*** का अर्थ 'पानीके बुलबुले' करते हैं, परंतु 'पार्वतीमंगल' से भी 'जल और पवन' अर्थ ही सिद्ध होता है। वहाँ पार्वती-तपका वर्णन इस प्रकार है—***'कंद मूल फल असन कबहुँ जल पवनहिं। सूखे बेलके पात खात दिन गवनहिं॥ नाम अपरना भयउ पर्न जब परिहरे।'*** (२३, २४) **बेलपाती**=बेलवृक्षकी पत्तियाँ=बेलपत्र। यह शङ्करजीपर चढ़ाया जाता है, जैसे तुलसी शालग्रामपर चढ़ानेका महत्त्व है वैसे ही शङ्करजीपर बेलपत्र चढ़ानेका महत्त्व है। बेलपत्रका रस भी बहुत सात्त्विक होता है और लाभदायक होता है। ***परना*** (पर्ण)=पत्ते। अपरना (अपर्णा)=पार्वतीजीका नाम।

अर्थ—(पार्वतीजीने) एक हजार वर्ष मूल और फल खाये (फिर) सौ वर्ष साग खाकर बिताये॥ ४॥ कुछ दिन जल और पवनका ही भोजन किया (अर्थात् इन्हींके सहारे रहीं)। कुछ दिन कठिन लंघन वा कड़ाके किये॥ ५॥ जो बेलपत्र सूखकर पृथिवीपर गिरते थे, तीन हजार वर्षतक उन्हींको खाया॥ ६॥ फिर सूखे पत्ते भी छोड़ दिये तब (से) उमाका नाम अपर्णा हुआ॥ ७॥

* **'संबत सहस मूल फल खाए'''''** इति। *

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'हजारका दशांश सौ, सौका दशांश दस, दसका दशांश एक, एक वर्षका दशांश छत्तीस (३६) दिन। इस तरह क्रमसे मूल, फल, साग, जल, पवन और उपवास हुआ। 'कठिन उपवास' का भाव कि जल और पवन भी भोजन नहीं कहलाता, जल और पवनपर रहना भी उपवास ही कहलाता है; अतएव इनका भी त्याग करनेसे 'कठिन उपवास' कहा। ***'भोजन बारि बतासा'***—जल और पवनको खाकर रहनेका भाव कि उमाजीको इनके सेवनमें भी वैसा ही हर्ष रहता था जैसा भोजन करनेपर सुख मिलता है।—पहले तपमें उत्साह दिखाते हैं।'

'बेलपाती महि परै सुखाई। तीनि सहस संबत सोइ खाई॥' यह अर्धाली तपक्रमसे प्रतिकूल पड़ती है। ऐसा समझकर मुं० रोशनलालजी लिखते हैं कि 'यह चौपाई क्षेपक जान पड़ती है, क्योंकि ऊपर सम्पूर्ण तपका क्रम लिख आये और अब सूखे बेलपत्रका खाना और छोड़ना लिखते हैं; यह व्यतिक्रम है।' बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'पाठक्रमसे अर्थक्रम बली होता है; इस न्यायके अनुसार अर्थ यों करना होगा कि शाक-भोजन त्यागकर पृथ्वीमें गिरे हुए सूखे बेलपत्र खाने लगीं, उनके पीछे जल ही केवल पीने लगीं और अन्तमें केवल वायु सेवन करने लगीं। वा, एक बार व्रत समाप्त करके फिर प्रारम्भ किया।' (रा० प्र०) पण्डित रामकुमारजीका भी मत यही है कि यहाँ 'तब' और 'पुनि' से तपकी दो आवृत्तियाँ दिखायीं। पहले मूलफलादि छोड़कर उपवास किये। फिर दूसरी आवृत्तिमें सूखे बेलपत्र खाना छोड़कर उपवास किये। गोस्वामीजीके 'पार्वतीमंगल' ग्रन्थमें भी कन्दमूल, फल, जल, पवन और सूखे बेल पत्र—यही क्रम है; अतः यह क्षेपक नहीं हो सकता। श्रीपार्वतीजीके तपके सम्बन्धमें बहुत प्रकारकी आलोचनाएँ हुई हैं। प्राचीन मानसविज्ञोंने अनेक प्रकारके सुन्दर-सुन्दर भाव कहे हैं—

(१) किसीका मत यह है कि 'रुद्रीकी कोटिसे तपस्या की। अर्थात् १००० वर्ष मूलफल फिर उसका दशांश १०० वर्ष साग दोनों मिलकर ११०० वर्ष हुए। ११ रुद्रीका स्वरूप है। इस प्रकार एक रुद्री तप पूरा हुआ। जल, पवन और उपवासके व्रत धारण करनेमें दिनकी गिनती नहीं दी है। परंतु जैसे पहले क्रममें मूल, फल और साग तीन वस्तुएँ हैं, वैसे ही दूसरे क्रममें भी जल, पवन और उपवास तीन वस्तुएँ कही हैं। इसलिये यहाँ भी वही क्रम समझा जाय। अर्थात् बारि बतासा १००० वर्ष, उपवास सौ वर्ष। इस प्रकार दूसरा एकरुद्री तप यह हुआ। इतनेपर जब कोई वरदायक न आया तब तीसरे प्रकारका

अधिक कठिन तप किया।' यह बात कालिदास महाराजके 'कुमारसम्भव' से भी पुष्ट होती है। प्रमाण यथा—सर्ग ५ श्लो० १८—'**यदा फलं पूर्वतपःसमाधिना न तावता लभ्यममंस्त काङ्क्षितम्। तदानपेक्ष्य स्वशरीरमार्दवं तपो महत्सा चरितुं प्रचक्रमे॥**' अर्थात् पूर्व तपसे जब वाञ्छित फलकी प्राप्ति न देखी तब अपने शरीरकी सुकुमारताका किञ्चित् भी विचार न करके उन्होंने अति कठिन तप प्रारम्भ किया। ३००० वर्ष सूखे बेलपत्र, फिर ३०० वर्ष वह भी छोड़े रहीं; यह ३३०० वर्षका तीन रुद्री तप हुआ।—सब मिलकर पाँच रुद्री तप हुआ। भाव यह कि शङ्करजी पञ्चमुखी हैं, इस विचारसे पञ्चरुद्री तप किया गया।

(२) बैजनाथजी लिखते हैं कि '१००० वर्ष मूलफल खानेसे दसों इन्द्रियाँ शुद्ध हुईं, १०० वर्ष-शाक-भाजी खानेसे देहाभिमानको जीता, कुछ दिन अर्थात् इसका दशांश १० वर्ष जल, पवनका सेवन करनेसे मन शुद्ध हुआ, फिर कुछ दिन अर्थात् इसका दशांश एक वर्ष उपवास किया; तब चित्त थिर हुआ। इस प्रकार पहले ११११ वर्षका एक पुरश्चरण किया। जब कोई वरदायक न आया तब दूसरा पुरश्चरण इसका तिगुना अर्थात् ३३३३ वर्षका किया। इस प्रकार कि ३००० वर्ष गिरे हुए सूखे बेलपत्र, ३३३ वर्ष फिर उसको भी त्यागे रहीं, जिससे बुद्धि शुद्ध हुई और तीनों अवस्थाएँ जीत तुरीया अवस्था शिवरूपमें लय हुई।'

वि० त्रि० भी दस वर्षतक जल और वायुका आहार और एक वर्ष कठिन उपवास मानते हैं। उनके मतसे ११०० वर्षकी एक रुद्री हुई फिर ११ वर्षकी दूसरी रुद्री हुई।

(३) शास्त्रका सिद्धान्त है कि जब कोई अनुष्ठान किया जाय और उसकी शान्ति अर्थात् उद्यापन जबतक न किया जाय तबतक वह सफल नहीं होता। इस शास्त्रमर्यादाका पालन पार्वतीजीने भलीभाँति किया है। शान्ति दशांशसे होती है। अथवा यह कह सकते हैं कि जपयज्ञकी रीतिसे तप किया गया। यज्ञमें यज्ञ, तर्पण, मार्जन, विप्रभोजन और दक्षिणा—ये पाँच अङ्ग होते हैं। यहाँ १००० वर्ष मूल-फल—यह यज्ञ हुआ, इसका दशांश १०० वर्ष साग—यह तर्पण हुआ, इसका दशांश १० वर्ष जल-पवन—यह मार्जन हुआ। पुनः ३००० वर्ष बेलपत्र-भोजन—यह विप्र-भोजन हुआ, उसका दशांश ३०० वर्ष उपवास—यह दक्षिणा है। इस प्रकार जप-यज्ञ किया गया।

(४) सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'कठिन क्रिया साधते-साधते अन्तमें सिद्धि होती है। इसलिये १००० वर्ष मूल-फल (अर्थात् मूल याने जड़ें मिलीं तो वही खा लीं, फल मिला तो उसीको खा लिया दोमेंसे जो मिला वही। वा, पहले मूल खाती रहीं, उसके बाद फल जो उससे भी हलके होते हैं खाये, गये) उसके बाद मूलफलकी अपेक्षा हलके पदार्थ साग खाकर १०० वर्ष बिताये गये। कुछ दिन सागसे भी हलका पानी पिया गया और फिर उससे भी हलका हवा पायी गयी। उसके बाद और कठिन उपवास किया गया। '***कठिन***' से समाधि अभिप्रेत है। अर्थात् समाधि लगाकर उपवास किया जिसमें हवाका पीना भी छोड़ दिया। '***कछु दिन***' से जान पड़ता है कि यह जल पीना, पवन पीना और समाधि लगाकर उपवास करना वर्ष दिनके बीचहीमें किया गया; जो कई वर्षतक किये जाते तो ग्रंथकार वर्ष-(शब्द-) का प्रयोग करते।'

(५) रामायणीजी कहते हैं कि 'यहाँपर उपदेशहेतु क्रमशः तप दिखाया गया है। पहले राजभोग व्यञ्जनादि छोड़ जड़ें जो नीरस होती हैं उनका सेवन किया। जब मूल अनुकूल हो गया तब फल और तत्पश्चात् शाक, फिर जल, अन्तमें पवनका आधार लिया। ये सब क्रमशः एक-से-एक नीरस हैं।'

☞ महानुभावोंने जो सुन्दर कल्पनाएँ की हैं, वह इधर रामायणियोंने भी अपनायीं और कतिपय विद्वान् टीकाकारोंने भी उनको अपनाया है। पर मेरी तुच्छ बुद्धिमें तो यह आता है कि (क) श्रीपार्वतीजीकी सारी तपश्चर्या मुख्य अनुष्ठान ही है न कि अनुष्ठान और उसकी साङ्गता। साङ्गता अनुष्ठानका अङ्ग होता है और अनुष्ठानकी अपेक्षा बहुत कम और सुगम होता है। उसमें अनुष्ठानसे अधिक कष्ट तो कभी भी नहीं होता। (२)—तपकी दो आवृत्तियाँ तपश्चर्याके प्रसङ्गमें जो देखनेमें आती हैं, उसके दो कारण हो

सकते हैं। एक तो यह कि प्रथम अनुष्ठानसे जब मनोरथकी सिद्धि न हुई तब उन्होंने पहलेसे अधिक कड़ा अनुष्ठान ठाना, शरीरकी किञ्चित् परवा न करके घोर तप प्रारम्भ किया। कालिदासजीका भी यही मत है। यथा—'**यदा फलं पूर्वतपःसमाधिना न तावता लभ्यममंस्त काङ्क्षितम्। तदानपेक्ष्य स्वशरीरमार्दवं तपो महत्सा चरितुं प्रचक्रमे॥**' (कुमारसम्भव सर्ग ५। १८) दूसरे यह भी हो सकता है कि प्रथम अधिकारप्राप्त्यर्थ अनुष्ठान किया गया, तत्पश्चात् मुख्य तप प्रारम्भ किया गया। इस भावके प्रमाणमें हम गायत्री आदि मन्त्रोंके पुरश्चरणकी विधि ले सकते हैं। उन अनुष्ठानोंमें प्रथम अधिकारप्राप्त्यर्थ कृच्छ्रादि अनुष्ठान किया जाता है, उससे शुद्धि हो जानेपर तब मुख्य अनुष्ठान होता है। यहाँ प्रथमावृत्तिमें जो तप किया गया वह भी अधिकारसिद्ध्यर्थ हो सकता है, क्योंकि इसमें जो आहार किया गया वह प्राकृत आहार है—फल, मूल, साग लोग खाते ही हैं और जैसे कृच्छ्रादिमें अन्तमें उपवास होता है, वैसे ही यहाँ भी उपवास किया गया। तत्पश्चात् दूसरी आवृत्ति जो हुई उसमें सूखी बेलपत्ती खायी गयी, जो प्राकृतिक आहार नहीं है। यह मुख्य अनुष्ठान प्रथमावृत्तिसे बहुत कड़ा है, क्योंकि इसमें प्राणोंकी बाजी लगी है। जिसकी उपासना की जाती है उसकी प्रिय वस्तुसे ही तप किया जाता है। शिवजीको बेलपत्र बहुत प्रिय है, इसीसे अनुष्ठान उसीसे प्रारम्भ किया गया। जैसे कि गणेशजीकी तपश्चर्यामें दूर्वादल या उसका रस ग्रहण किया जाता है। ☞इस प्रकार मुख्य तप '***बेलपाती महि परै सुखाई***' से प्रारम्भ हुआ—ऐसा कहें तो अनुचित न होगा। अब जो रुद्रकोटि तप या जपयज्ञरीतिका तप आदि भाव महानुभावोंने लिखे हैं उनपर विचार करना है।

☞ रुद्री किसे कहते हैं? इसपर जो मुझे पण्डितोंके द्वारा जानकारी हुई उसे यहाँ लिखता हूँ। (१) शुक्लयजुर्वेदकी संहितासे कुछ मन्त्रोंको चुनकर उनका संग्रह एकत्र किया गया, जिसमें सूर्य, गणेशजी आदि देवताओंके स्तुतिपरक मन्त्र होते हुए भी शिवपरक मन्त्र ही अधिक हैं। अतः इसका नाम '**शुक्ल-यजुर्वेदीय रुद्राष्टाध्यायी**' रखा गया। इसीको कर्मकाण्डी पण्डित व्यवहारमें 'रुद्री' कहते हैं। यद्यपि वेदपाठका सामान्य फल पापनाश वा पुण्यप्राप्ति है तथापि इस रुद्राष्टाध्यायीका विनियोग विशेषतः शिवजीके अभिषेकमें किया जाता है। एक पात्रमें नीचेकी ओर महीन छेद करके उसमें जल भरके शिवजीके ऊपर टाँग देते हैं जिससे उनपर अखण्ड जलधारा गिरा करती है। साथ ही पास बैठकर उपर्युक्त मन्त्रोंका पाठ किया जाता है—इसीको '**अभिषेक**' कहते हैं। यद्यपि इस संग्रहके अन्तमें '**शान्त्यध्याय**' और '**स्वस्तिप्रार्थनामन्त्राध्याय**' जोड़ दिये गये हैं तथापि इसे '**अष्टाध्यायी**' ही कहते हैं। इसके पाठके कुछ प्रकार हैं। इसके आदिसे अन्ततक यथाक्रम पाठको '**सकृदावर्तन**' कहते हैं। इसके पञ्चमाध्यायको 'नमक' कहते हैं, क्योंकि इसमें '**नमः**' शब्द बारम्बार आया है तथा अष्टमाध्यायको 'चमक' कहते हैं, क्योंकि उसमें '**चमे**' शब्द बारम्बार आया है। चमकमें जो मन्त्र हैं उनके ग्यारह भाग किये हैं, जिसमें किसीमें चार तो किसीमें तीन और किसीमें दो वा एक ही मन्त्र हैं। जब नमक अर्थात् पञ्चमाध्याय समग्र पढ़ा जाता है तब चमकका प्रथम भाग पढ़ा जाता है, फिर नमकको पढ़कर चमकका दूसरा भाग पढ़ते हैं, इस रीतिसे जब नमक ग्यारह बार पढ़ते हैं तब चमकके समग्र भागोंकी एक आवृत्ति पूरी होती है। नमकके पूर्वके चार अध्यायों तथा नमकके आगे चमकतक दो अध्यायोंमें जो मन्त्र हैं उनको प्रथमावृत्तिके समय यथाक्रम पढ़ा जाता है। अर्थात् प्रारम्भमें जो नमकका पहला पाठ होता है तब उस समय पहली बार नमकके पूर्वके चारों ओर आगेके दो अध्यायोंका भी पाठ कर लिया जाता है फिर नहीं। दूसरे आवर्तनसे इन (छः अध्यायोंके) मन्त्रोंको छोड़ दिया जाता है, केवल नमक-चमकका ही साथ रहता है और ग्यारह आवर्तन (अर्थात् चमकका अन्तिम भाग पढ़ने) पर आगेवाले दो अध्यायोंके पाठसे शान्ति और प्रार्थना करके समाप्ति करते हैं। इस प्रकारके पाठको 'रुद्र' कहते हैं। ग्यारह (११) रुद्रोंका एक 'लघुरुद्र', ग्यारह 'लघुरुद्रों' का एक 'महारुद्र' और ग्यारह महारुद्रोंका एक 'अतिरुद्र' होता है।

इसी प्रकार कृष्णयजुर्वेदके 'आपस्तंब' संहिताके कुछ मन्त्रभागको भी 'रुद्र' कहते हैं। उसमें भी 'नमक' और 'चमक' दो भाग हैं। प्रत्येक भागमें ग्यारह-ग्यारह भाग हैं जिनको 'अनुवाक' कहते हैं।

उसका भी पाठक्रम वैसा ही है—एक बार समग्र नमक तब एक चमक। इस प्रकार ग्यारह बार नमक पढ़नेसे चमककी एक आवृत्ति होती है। इस अनुष्ठानको 'एकादशिनी' कहते हैं। ग्यारह एकादशिनीका एक 'लघुरुद्र' होता है इत्यादि। ☞अब विज्ञ पाठक देखें कि उपर्युक्त अनुष्ठानके साथ श्रीपार्वतीजीके तपका क्या मेल या सम्बन्ध है? यहाँ तो दो मन्त्रभागोंका हेर-फेर है और वहाँ तो मन्त्रका नाम भी नहीं। सम्भवतः किसी शिवमन्त्रका जप अवश्य रहा होगा, परन्तु गोस्वामीजीने कोई उल्लेख नहीं किया (जैसा कि मनुशतरूपाजीके तपप्रसंगमें किया है)। यहाँ तो केवल वर्ष और दिनोंका उल्लेख किया गया, सो भी आहारकी अवधि दिखानेके लिये। क्या ११०० वर्षमें ११ संख्यासे 'रुद्री' तप कहनेका कोई प्रमाण है? 'रुद्री' नामका प्रयोग करनेके लिये ही ११११, ३३३३, ९९९९ आदिकी कल्पनाएँ पण्डितोंने सम्भवतः की हैं, यद्यपि गोस्वामीजीके शब्दोंमें इन संख्याओंका उल्लेख नहीं है और न हमें पद्मपुराण, कुमारसम्भव, शिवपुराणमें ही इन संख्याओंकी कल्पनाका कोई प्रमाण मिला।

जपयज्ञकी रीतिसे तप करना कहनेमें ये आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं कि (१) जो भक्त इष्टकी प्राप्तिका सङ्कल्प करेगा, वह संख्याका निश्चय नहीं करेगा। उसका ध्येय तो यही होगा कि जबतक न मिलेंगे तबतक कठिन-से-कठिन तप करता रहूँगा। वह न मन्त्रकी संख्या कर सकता है, न दिनोंकी। (२) दूसरे, जपयज्ञका विधान शास्त्रोंमें यह है कि जपका अनुष्ठान पूरा करके तब उसका दशांश होम, होमका दशांश तर्पण और तर्पणका दशांश मार्जन (अभिषेक) और इसका दशांश या अधिक ब्राह्मणभोजन। यदि होमादिका सामर्थ्य न हो तो जपद्वारा जो होमादि किया जाता है उसकी संख्या इस प्रकार है कि दशांशके हिसाबसे होमादिकी जो संख्या ऊपर कही गयी है, उसमें होमके बदलेमें चतुर्गुण जप होना चाहिये और शेषमें प्राप्त संख्याका द्विगुण जप होना चाहिये। यथा—'**दशांशहोमविचारः॥ जपान्ते प्रत्यहं मन्त्री होमयेत्तद्दशांशतः। तर्पणं चाभिषेकं च विप्रभोजनमाचरेत्॥ अथवा सर्वपूर्त्तौ च होमादिकमथाचरेत्॥ होमाद्यशक्तौ॥ यद्यदंगं भवेद्भग्नं तत्संख्याद्विगुणो जपः। होमाभावे जपः कार्यो होमसंख्याचतुर्गुणः॥**'(९८-९९)—(दुर्गाकल्पद्रुम शास्त्रार्थ परिच्छेदान्तर्गत जपविषयक विचार) जपयज्ञकी इस कसौटीपर कसनेपर जपयज्ञरीत्यनुसार तपकी कल्पनाकी भीति किञ्चित् देर भी नहीं ठहर पाती। इस कल्पनाके अनुसार मूलपुरश्चरण केवल एक हजार वर्षका था और उसके बाद जो बहुत उग्र तप हुआ वह सांगतामात्र ठहरी।—कितनी अनुचित कल्पना है? फिर होमादिका सामर्थ्य भी हिमाचलराजको है ही, वे करा सकते थे। (३) जप-यज्ञमें जो संख्या प्रारम्भ की जाती है वही नित्य समाप्तितक होनी चाहिये, नहीं तो वह जप ही व्यर्थ हो जाता है। यथा—'**यत्संख्यया समारब्धं तज्जप्तव्यं दिने दिने। यदि न्यूनाधिकं कुर्याद् व्रतभ्रष्टो भवेन्नरः॥** ९५॥' (श्रीदुर्गाकल्पद्रुम) (४) वर्षोंमें दिनोंकी संख्या एक-सी नहीं होती। वर्षमें दिन घट-बढ़ भी जाते हैं। अधिक मास भी होता है। तब एक हजार वर्षका दशांश सौ कैसे होगा? जपसंख्यामें जब अदल-बदलका निषेध है तब कैसे मान लिया गया कि एक हजार वर्षमें जितना जप या तप हुआ उसका ठीक दशांश सौ वर्षमें होगा? इसी कठिनाईको विचारकर ही आचार्योंने जपविषयक विचारमें संख्याका दशांश कहा है, दिनका नहीं, क्योंकि दिन घटते-बढ़ते हैं इत्यादि।

रुद्रकोटि अथवा जपयज्ञरीति कहनेमें बलात् जल, पवन और उपवासके लिये सौ, दस और एक वर्षकी कल्पना करनी पड़ती है जो कविके शब्दोंसे विरुद्ध है। कविके शब्द हैं—'*कछु दिन भोजन बारि बतासा। किए कठिन कछु दिन उपबासा॥*' हमारी समझमें श्रीसुधाकर द्विवेदीजी ठीक ही कहते हैं कि '*कछु दिन*' से ज्ञात होता है कि जल, पवन और उपवास वर्ष दिनसे कम ही सेवन किये गये अथवा वर्ष दिनके बीचमें ही किये गये। यदि कई-कई वर्ष किये गये होते तो यहाँ भी कवि वर्ष शब्दका प्रयोग करते।

पं० श्रीकान्तशरणजीने एक कल्पना और भी की है। वे लिखते हैं कि 'श्रीपार्वतीजीने यवाकार तपस्या की है।' इस तरह कि प्रथम पुरश्चरण ११११ वर्षोंका हुआ। फिर ३००० वर्ष बेलपत्र-आहारसे रहीं, फिर

३०० वर्ष उसे भी त्यागके रहीं, इसपर मनोरथ-सिद्धिका वर मिल गया। नहीं तो ३०, ३ वर्षका करके ३३३३ वर्षोंका दूसरा पूरा होता। फिर ९९९९ का तीसरा, तब ३३३३ का चौथा पुनः ११११ का पाँचवाँ पुरश्चरण यवाकृति होकर पूर्ण होता।' विज्ञ पाठक अब स्वयं विचार लें। प्रथम तो इसका प्रमाण क्या कि पार्वतीजीने ऐसा ठाना था। दूसरे, इष्टप्राप्ति तीसरेमें भी न होती तो तप घटा देतीं—क्या यह बात स्वीकार करनेयोग्य है? न मिलनेपर और कठिन व्रत करतीं या कि घटातीं? दूसरे, उनके वाक्यमें '**वदतो व्याघातः**' दोष है। पहले तो वे लिखते हैं कि '**यवाकारतपस्या**' की और फिर लिखते हैं कि 'यवाकृति होकर पूर्ण होता'। तीसरी आपत्ति इस कल्पनामें यह आ पड़ती है कि 'यवाकार' शब्द तपके साथ हमें कहीं नहीं मिला। हाँ! चान्द्रायण व्रतके सम्बन्धमें पिपीलिकामध्य और यवमध्य दो भेद मनुस्मृतिमें मिलते हैं। जब व्रत शुक्लपक्षसे प्रारम्भ होता है तब वह यवमध्य कहलाता है और जो कृष्णपक्षसे प्रारम्भ होता है वह पिपीलिकामध्य कहा जाता है। यथा—'**एकैकं ह्रासयेत्पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्द्धयेत्। उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम्॥ एतमेवविधिं कृत्स्नमाचरेद्यवमध्यमे। शुक्लपक्षादिनियतः चरंश्चान्द्रायणं व्रतम्॥**' (मनुस्मृति ११। २१६, २१७) अर्थात् कृष्णपक्षकी प्रतिपदासे एक-एक ग्रास प्रतिदिन कम करता जाय और शुक्लपक्षमें एक-एक बढ़ाता जाय। त्रिकाल स्नान करे। यह पिपीलिकामध्यचान्द्रायण व्रत हुआ। इसी प्रकार शुक्लपक्षकी प्रतिपदासे प्रारम्भ कर एक-एक ग्रास प्रतिदिन बढ़ाता जाय, फिर कृष्णपक्षमें एक-एक ग्रास घटाता जाय—यह यवमध्यचान्द्रायण व्रत है। दोनों व्रतोंका सम्बन्ध चन्द्रमाके घटने-बढ़नेसे है।

नोट—१ '***भोजन बारि******' '*बेलपाति महि परै सुखाई*' इति। (क) श्रीउमाजी जलमें केवल वही जल पीती थीं जो अपने-ही-आप प्राप्त हो जाता था; जैसे वनके वृक्ष केवल वर्षाजलहीपर रहते हैं और चातक स्वातीके जलपर, वह भी जो उसके मुखमें सीधा आकर पड़े, यह भी नहीं कि जो इधर-उधर गिरे। यथा कुमारसम्भवग्रन्थमें (सर्ग ५ श्लोक २२)—'**अयाचितोपस्थितमम्बु केवलं रसात्मकस्योडुपतेश्च रश्मयः। बभूव तस्याः किल पारणाविधिर्न वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्तसाधनः॥**' अर्थात् बिना माँगे जो जल मिल जाता उसे अथवा चन्द्रकिरण पान करती थीं, जैसे कि वृक्ष अनायास प्राप्त जल और किरणसे सन्तुष्ट होते हैं। (ख) इसी प्रकार बेलपत्र भी वे वही खाती थीं कि जो पेड़मेंसे सूखनेपर स्वयं गिरे। पत्तियोंको हाथसे तोड़नेसे वृक्षोंकी हिंसा होती है, इसलिये जो आप-से-आप सूखकर पृथ्वीपर गिरती थी उसीको खाती थीं। पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें लिखा है कि प्रतिदिन वे केवल एक बेलपत्र खाकर रहती थीं। यह बात सूचित करनेके लिये ग्रन्थकारने '*परै*' एक वचन क्रिया यहाँ दी है। (ग) बेलपत्रपर शिवजीका बड़ा प्रेम है (जैसे तुलसीपर भगवान्‌का), इसलिये उन्होंने पतिके प्रिय वस्तुको ग्रहण किया। ☞स्मरण रखना चाहिये कि बेलपत्र और तुलसीके सेवनसे सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है। (घ) यहाँ तीन हजार वर्ष बेलपत्रका खाना लिखा गया। कितने दिन उसे छोड़े रहीं, उसका उल्लेख नहीं है।

नोट—२ '*पुनि परिहरे सुखानेउ परना।******' इति। (क) '*पुनि*' शब्द देकर यहाँ तपकी दूसरी आवृत्ति, अनुष्ठान वा पुरश्चरण सूचित किया। जैसा पूर्व लिखा जा चुका है। कितने दिनोंतक बेलपत्रका खाना छोड़े रहीं, इसका पता नहीं। पार्वतीमंगल, कुमारसम्भव और पद्मपुराणमें भी इसका उल्लेख नहीं है, सर्वत्र केवल छोड़नेपर 'अपर्णा' नाम होनेका उल्लेख पाया जाता है; यथा—'*नाम अपरना भयो परन जब परिहरे। नवल धवल कल कीरति सकल भुवन भरे॥*' (२४) **स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः। तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः॥**' (अर्थात् यह तपकी पराकाष्ठा है कि पार्वतीजीने आप-ही-आपसे गिरे हुए पत्ते जो भोजन करती थीं वह भी छोड़ दिया। इसीसे प्रियवादिनी पार्वतीको पुराणोंके विज्ञ 'अपर्णा' कहते हैं। कुमारसम्भव सर्ग ५ श्लोक २८) इसके बाद श्लोक २९ में कहा है कि '**तपः शरीरैः कठिनैरुपार्जितं तपस्विनां दूरमधश्चकार सा।**' जिससे स्पष्ट है कि पत्तोंका खाना छोड़नेपर कठिन उपवास फिर किया। पुनश्च यथा—'**शुष्कानि चैव पर्णानि नाशितानि तया यदा। अपर्णेति च विख्याता बभूव तनुमध्यमा॥**' (स्कन्दपुराण) अर्थात् जब उन्होंने सूखे पत्तोंका खाना भी छोड़ दिया तब उनका नाम 'अपर्णा' हो गया।

सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि भविष्योत्तरपुराणमें चौंसठ वर्ष सूखे पत्ते खाना लिखा है; यथा—'**संवत्सरचतुष्षष्टिं पक्वपर्णाशनं वृतम्।**' और हरिवंशमें लिखा है कि हिमाचलके तीन कन्याएँ थीं, जिनमेंसे एकका नाम अपर्णा था, यथा—'**तिस्त्रः कन्यास्तु मेनायां जनयामास शैलराट्। अपर्णामेकपर्णां च तृतीयामेकपाटलाम्॥**' (पूर्वखण्ड अ० २४) '*कल्प भेद हरि चरित सुहाए*' ही इसका समाधान है। मानसकल्पमें वही था जैसा मानस-कविने लिखा है।

नोट—३ यहाँतक चरणोंका प्रताप दिखाया कि पतिपदके प्रभावसे ही वे सब भोगादि छोड़कर तपमें क्रमशः बढ़ती गयीं।

देखि उमहि तप खीन सरीरा। ब्रह्मगिरा भै गगन गभीरा॥८॥

दो०—भएउ मनोरथ सुफल तव सुनु गिरिराजकुमारि।
परिहरु दुसह कलेस सब अब मिलिहहि त्रिपुरारि॥७४॥

शब्दार्थ—'**खीन**' (क्षीण)=दुर्बल; दुबला पतला।=सूखा हुआ।

अर्थ—तपसे उमाका शरीर अत्यन्त क्षीण देखकर आकाशसे गम्भीर ब्रह्मवाणी हुई॥ ८॥ हे गिरिराजकुमारि! सुन। तेरा मनोरथ सिद्ध हुआ। अब (ये) सारे कठिन क्लेश त्याग दे। (अब) शिवजी तुझे निश्चय ही मिलेंगे॥ ७४॥

टिप्पणी—१ (क) '*देखि उमहि तप*......' इति। क्षीणसे जनाया कि तपसे शरीरमें हड्डीमात्र रह गयी थी। (जैसा मनुजीके सम्बन्धमें कहा है—'*अस्थि मात्र होइ रहे सरीरा।*') शरीर क्षीण हो जानेसे यह सन्देह हुआ कि शरीर अब न रहेगा, प्राण निकल जायँगे। इसीसे अब आकाशवाणी हुई। *ब्रह्मगिरा*=ब्रह्मवाणी=ब्रह्माकी वाणी,यथा—'*सुनत गिरा बिधि गगन बखानी। पुलक गात गिरिजा हरषानी॥*' [(ख) सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि '*पुनि परिहरे सुखानेउ परना*' इससे शरीरमें दुर्बलता दिखायी गयी। अर्थात् कठिन तपसे देहकी हड्डी रह गयी। अब सूखे पत्ते भी नहीं खाये जाते। तब देखनेवाले देवतालोग उमाको '*अपर्णा*', '*अपर्णा*' कहने लगे। अर्थात् क्षीण शरीर हो जानेसे देवताओंको सन्देह हुआ कि उमा मर न जाय, इसलिये ब्रह्मलोकमें दोहाई देने लगे कि अब तो उमा 'अपर्णा' हो गयी। इस कोलाहलसे ब्रह्माजीने देखा कि सचमुच उमाका शरीर क्षीण हो गया है। वे विस्मित हो गये जैसे सप्तर्षि हुए हैं; यथा—'*देखि दसा मुनि बिसमय भयऊ।*' तब आकाशसे ब्रह्मवाणी हुई। '*ब्रह्म*' से परब्रह्म श्रीरामजी अभिप्रेत हैं, क्योंकि ५१ वें दोहेके छन्दमें कह आये हैं कि '*सोइ राम ब्यापक ब्रह्म*......' गम्भीर वाणी हुई जिसमें उनके दुर्बल कानोंतक पहुँचे। वि० त्रि० जी कहते हैं कि रुद्राणी पद देना है, इसके देनेवाले ब्रह्म ही हैं, ब्रह्मा नहीं। यथा—'*बिधिहि बिधिता हरिहि हरिता हरहिं हरता जो दई। सो जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगल मई॥*']

टिप्पणी २—'*भएउ मनोरथ सुफल तव*......' इति। (क) यहाँ '*माँगु बर*' न कहकर '*भएउ मनोरथ सुफल तव*' कहनेका भाव कि श्रीपार्वतीजीका मनोरथ प्रसिद्ध है, सब जानते हैं कि शिवप्राप्त्यर्थ वे तप कर रही हैं। नारदजीका यही उपदेश था। हिमाचल और वेदशिरा आदि सभी मुनि जानते हैं। अतएव आकाशवाणीने यह न कहा कि वर माँगो, जैसा औरोंसे कहा है। यथा—'*माँगु माँगु बर भइ नभ बानी। परम गँभीर कृपामृतसानी॥*' (१। १४५) इति मनुप्रसंगः, '*गयउ निकट तप देखि बिधाता। माँगहु बर प्रसन्न मैं ताता॥*' (१। १७७) इति रावणप्रसंगः, '*गए बिभीषन पास पुनि कहेउ पुत्र बर माँगु॥*' (१। १७७) इति विभीषणप्रसंगः, '*परम प्रसन्न जानु मुनि मोही। जो बर मागहु देउँ सो तोही॥*' (३। ११) इति सुतीक्ष्णप्रसंगः, '*काकभसुंडि माँगु बर अति प्रसन्न मोहि जानि।*' (७। ८३) इति कागभुशुण्डिप्रसंगः। पुनः, (ख) '*माँगु बर*' न कहनेका दूसरा भाव यह है कि उमाजीको प्रकटरूपसे पतिका वर माँगनेमें संकोच होगा; यथा '*कहत बचन मनु अति सकुचाई*' (दोहा ७८ में ऐसा पार्वतीजीने सप्तर्षियोंसे कहा ही है)। इसीसे वर माँगनेको न कहा गया।

नोट—१ '*सुनु गिरिराजकुमारि*' इति। सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'ज्योतिषशास्त्रमें लिखा है

कि जिस मनुष्यके बहुत-से नाम हों, उनमेंसे किस नामसे उसके भले-बुरेका विचार किया जाय, इसके लिये जब वह मनुष्य सुखसे सो जाय तब उसे उसके प्रत्येक नामसे पुकार-पुकारकर जगाया जाय। जिस नामके पुकारनेसे वह जाग उठे वही उसका सच्चा नाम समझो और उससे भले-बुरेका विचार करो। परन्तु यदि खाली उस मनुष्यको पुकारना ही हो जिसके कई नाम हों तो उसके बापका नाम लेनेसे वह आदमी तुरंत समझ जायगा कि मुझे पुकारते हैं। नारदजीने पार्वतीके तीन नाम रखे—उमा, अम्बिका, भवानी। इन्हें छोड़ पार्वतीजीको तुरंत समझनेके लिये ब्रह्मवाणीने बापके नामके साथ उन्हें पुकारा।' ☞'वर देना भी माधुर्यमें ही है। अतः गिरिराजकुमारि सम्बोधन किया। पुनः अपने व्रतमें अचल होनेसे '*गिरिराज*' का सम्बन्ध दिया।

नोट—२'*परिहरु दुसह कलेस सब*' इति। (क) भाव कि जिस कार्यके लिये तप कर रही थीं वह कार्य हो गया; अतएव अब उसे करनेका प्रयोजन ही क्या रह गया? यथा '*जिमि हरिभगति पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चारि।*' (४। १६) '*तापस तप फलु पाइ जिमि सुखी सिरानें नेमु।*' (२। २३६) (ख) '*सब*' अर्थात् कन्द, मूल, फल, साग, पत्ते, जल, पवन और उपवास आदि। राजभोग आदिके त्यागसे जो क्लेश है, पतिपरित्याग आदिका जो क्लेश है, एवं तपका क्लेश इत्यादि 'सब क्लेश' हैं।

नोट—३ '*अब मिलिहहि त्रिपुरारि।*' (क) '*अब*......' का भाव कि पार्वतीजीके चित्तमें सन्देह था कि मिलना कठिन है; यथा—'*मिलन कठिन मन भा संदेहू।*' अतः ब्रह्मवाणीने '*अब मिलिहहि*' कहकर सन्देह दूर किया। (ख) '*मिलिहहि*' का' भाव कि यहाँ आकर ब्याह ले जायँगे, ऐसा न होगा कि शैलराज तुम्हें वहाँ ले जाकर दे आवें जैसा कि राजाओंके यहाँ जहाँ-तहाँ रीति है। मनुमहाराजने अपनी कन्या कर्दम ऋषिको जाकर दी थी। (ग) '*त्रिपुरारि*' इति। प्रथम कहा कि '*भएउ मनोरथ सुफल तव।*' क्या मनोरथ है?—यह नहीं कहा। पार्वतीजी अभी बालिका हैं। इतनामात्र कहनेसे कदाचित् उन्हें संदेह रह जाय तो ब्रह्मवाणीका होना-न-होना बराबर हो जायगा। अतः निस्सन्देह करनेके लिये यहाँ मनोरथको स्पष्ट कर दिया कि '*मिलिहहि त्रिपुरारि।*'—[(घ) सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि सतीत्यागका प्रण करनेपर सतीजीने शिवजीसे अनेक प्रकारसे पूछा था कि आपने क्या प्रण किया है पर शिवजीने उस समय न बताया था। दोहा ५७ की आठवीं अर्धालीमें ग्रन्थकर्ताने '*जदपि सती पूछा बहु भाँती। तदपि न कहेउ त्रिपुर आरातीं॥*' कहा था। वही '*त्रिपुर आराती*' =त्रिपुरारि यह नाम ब्रह्मवाणीद्वारा ग्रन्थकारने यहाँ भी कहा। इसके भाव वहाँ लिखे जा चुके हैं।]

* श्रीपार्वतीतप और श्रीमनु-शतरूपातपका मिलान *

श्रीपार्वतीतप (दोहा ७३-७४)	श्रीमनु-शतरूपातप (१४३—१५१)
१. *मातु पिता बहुबिधि समुझाई।*	*बरबस राज सुतहि नृप दीन्हा।*
२. *चली उमा तप हित हरषाई। जाइ बिपिन लागीं तप करना।*	*नारि समेत गवन बन कीन्हा॥*
३. *अति सुकुमार न तनु तप जोगू।*	*कृस सरीर मुनिपट परिधाना।*
४. '*पतिपद सुमिरि तजेउ*......'—	*सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा॥*
५. *नित नव चरन उपज अनुरागा।*	*बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग॥*
६. *संबत सहस मूल फल खाए। सागु खाइ सत बरष गवाँए॥*	*करहिं अहार साक फल कंदा।*
७. *कछु दिन भोजन बारि बतासा।*	*बारि अहार मूल फल त्यागे॥*
	एहि बिधि बीते बरष षट सहस बारि आहार।
	संबत सप्त सहस्र पुनि रहे समीर अधार॥
८. *किये कठिन कछु दिन उपबासा॥*	*बरष सहस दस त्यागेउ सोऊ।*
९. *देखि उमहि तपखीन सरीरा।*	*अस्थि मात्र होइ रहे सरीरा।*

१०. *'ब्रह्मगिरा भइ गगन गँभीरा॥ भएउ मनोरथ सुफल तव……'*	*माँगु माँगु बर भइ नभ बानी। परम गँभीर कृपामृत सानी॥*
११. *'परिहरु दुसह कलेस सब अब मिलिहहि त्रिपुरारि॥'*	*नृप तव तनय होब मैं आई।*
१२. *'अब उर धरहु ब्रह्म बर बानी। हठ परिहरि घर जाएहु तबहीं*	*अब तुम्ह मम अनुसासन मानी। बसहु जाइ सुरपति रजधानी॥*
१३. *सुनत गिरा बिधि गगन बखानी। पुलक गात गिरिजा हरषानी॥*	*श्रवन सुधा सम बचन सुनि प्रेम प्रफुल्लित गात प्रेम न हृदय समात।*

अस तपु काहु न कीन्ह भवानी। भए अनेक धीर मुनि ज्ञानी॥ १॥
अब उर धरहु ब्रह्म बर बानी। सत्य सदा संतत सुचि जानी॥ २॥

अर्थ—हे भवानी! अनेक धीर मुनि और ज्ञानी हो गये पर ऐसा (उग्र) तप किसीने नहीं किया॥ १॥ अब (इस) श्रेष्ठ ब्रह्मवाणीको सदा सत्य और निरन्तर पवित्र जानकर हृदयमें धारण करो॥ २॥

नोट—१ *'अस तपु काहु न कीन्ह'* इति। (क) *'अस'* अर्थात् जैसा कठिन तप तुमने किया। जो *'पति पद सुमिरि तजेउ सब भोगू'* से लेकर *'देखि उमहि तप खीन सरीरा'* तक ऊपर कहा गया। (ख) *'काहु न कीन्ह'* का भाव कि मुनियोंने भी कठिन तप किये हैं—पर उनकी ऐसी छोटी और सुकुमार अवस्था न थी जैसी तुम्हारी थी। मनु-शतरूपाजीका तप तो इससे भी कठिन था पर वे जब तप करने गये थे उस समय उनका चौथापन था और शरीर हृष्ट-पुष्ट था। (ग) कुछ लोग लिखते हैं कि *'अस तप'* का भाव यह है कि तुमने जिस कामनासे (अर्थात् पति-प्राप्त्यर्थ) तप किया इस कामनासे और किसीने नहीं किया।' वा पतिके लिये ऐसा तप नहीं किया (अर्थात् और मनोरथोंके लिये ऐसा तप किया गया है)। वा, केवल पार्वतीजीकी बड़ाईके लिये ऐसा कहा। (पं० सू० प्र० मिश्रजी)।—पर ब्रह्मवाणीके *'परिहरु दुसह कलेश सब'* और *'भए अनेक धीर मुनि ज्ञानी'* से इसका विरोध होगा। ब्रह्मवाणी असत्य नहीं होती। यहाँ *'अस'* का भाव 'ऐसा कठिन' ही विशेष संगत है। यही भाव कुमारसम्भव सर्ग ५ श्लोक २९ से भी प्रमाणित होता है; यथा—'**मृणालिकाये लवमेवमादिभिर्व्रतैः स्वमङ्गं ग्लपयन्त्यहर्निशम्। तथा शरीरैः कठिनैरुपार्जितं तपस्विनां दूरमधश्चकार सा॥**' अर्थात् कमलनालसदृश अपने कोमल शरीरको इस प्रकारके कठिन व्रतोंसे रात-दिन गला देनेवाली श्रीपार्वतीजीने मुनियोंके कठिन शरीरसे किये हुए तपसमूहका अत्यन्त तिरस्कार किया। पुनः '**अस तप**'=इस विधिसे तप; अर्थात् पहले मूल-फल खाकर, फिर साग, इसके बाद जल और वायु पीकर और तदनन्तर उसे भी छोड़कर। ध्रुव आदिने भी तप किये पर हवा पीते थे। हवा पीना भी छोड़कर तप करना यह पार्वतीहीका काम था। अतः *'अस तपु काहु न कीन्ह'* कहना उचित ही है। (मा० प०) (घ) ☞प्रसन्न होनेपर ही वर दिया जाता है। यथा—'……*अति प्रसन्न मोहि जानि। माँगहु बर जोइ भाव मन महादानि अनुमानि॥*' (१। १४८) इति मनुप्रसंग; *'अब प्रसन्न मैं संसय नाहीं। मागु जो भूप भाव मन माहीं॥*' (१। १६४) इति कपटीमुनि-भानुप्रतापप्रसंग; *'मागहु बर प्रसन्न मैं ताता।……एवमस्तु तुम्ह बड़ तप कीन्हा॥*' (१। १७७) इति रावणप्रसंगः इत्यादि। अतएव *'भएउ मनोरथ सुफल तव……'* यह वर देकर अब अपनी प्रसन्नताका कारण *'अस तपु काहु न कीन्ह'* इत्यादिसे कह रहे हैं कि धीर, मुनि और ज्ञानी अनेक हुए जिन्होंने तप किया पर पवन भी न पिया हो, कठिन उपवास किये हों और वह भी छोटी कोमल अवस्थामें, यह किसीने नहीं किया। अतः मैं बहुत प्रसन्न हूँ।

नोट—२ *'भवानी'* इति। प्रथम कहा कि *'अब मिलिहहि त्रिपुरारि।' 'मिलिहहि'* से हो सकता है कि मिलेंगे, पर पति बनेंगे या नहीं यह सन्देह ही रह गया। इसके दूर करनेके लिये अब *'भवानी'* सम्बोधन किया। प्रथम *'गिरिराजकुमारि'* नाम दिया था और अब *'भव'* से सम्बन्ध होनेका वर देनेपर *'भवानी'*

सम्बोधनद्वारा सूचित करते हैं कि शंकरजी तुम्हारे पति हो गये, तुम अबसे शिवजीको अपना पति और अपनेको उनकी पत्नी समझो। इसमें संदेह न करो। ☞ जैसे मनु और शतरूपाजीको वर देकर कि मैं तुम्हारा पुत्र होऊँगा, अपनी वाणीकी सत्यता दिखानेके लिये वर देनेके बाद उनको श्रीरामजीने *'तात'* और *'मातु'* सम्बोधन किया; यथा—*'तहँ करि भोग बिसाल तात गए कछु काल पुनि।......'*, *'मातु बिबेकु अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें॥'* वैसे ही यहाँ *'मिलिहहि त्रिपुरारि'* कहकर उन्हें *'भवानी'* सम्बोधन कर अपनी वाणीकी सत्यता दृढ़ की।

टिप्पणी—१ *'अब उर धरहु ब्रह्म बर बानी।......'* इति। (क) इससे अनुमान होता है कि पार्वतीजीके हृदयमें यह अभिलाषा हो रही थी कि शिवजी स्वयं आकर मिलें, दर्शन दें और वर दें तब मैं तप छोड़ूँगी; यथा—*'तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू॥'* (१। ८१) नारदजीने यह कहते हुए भी कि *'दुराराध्य पै अहहिं महेसू'* यह भी कहा था *'आसुतोष पुनि किएँ कलेसू'*; इससे उनको विश्वास था कि वे स्वयं आकर प्रसन्न होकर वर देंगे। पर शिवजी न आये, प्रायः यही रीति है कि जिस देवताके लिये अनुष्ठान किया जाता है वही प्रकट होता है। सतीतनत्यागके लिये ही प्रतिज्ञा थी सो वह तन छूटकर दूसरा जन्म भी हो गया और फिर उनके लिये तप भी किया गया तब भी वे स्वयं न आये। इसीसे आकाशवाणी यह कहकर कि *'अब उर धरहु ब्रह्म बर बानी। सत्य सदा संतत सुचि जानी॥'* यथा—*'मिलहिं तुम्हहि जब सप्त रिषीसा। जानेहु तब प्रमान बागीसा॥'* उनको आश्वासन दे रही है, विश्वास करा रही है। (ख) *'उर धरहु'* अर्थात् ऐसी धारणा कर लो, इस बातको हृदयमें धारण कर लो, इसे भूलना नहीं, इसमें विश्वास रखो। यथा—*'अस उर धरि महि बिचरहु जाई।'* (यह नारदजीसे भगवान्‌ने कहा है। १। १३८) पुनः, [भाव कि 'इस ब्रह्मवाणीको तुम प्रकाश मत करो, क्योंकि तुम कन्या हो। केवल इसको विश्वास करके हृदयमें रखो, किसीसे कहनेका काम नहीं है। (सू० प्र० मिश्र) पुनः, **'ब्रह्म बर बानी'**=ब्रह्मकी वरके लिये अर्थात् पतिके सम्बन्धकी जो वाणी हुई कि *'अब मिलिहहिं त्रिपुरारि'* उसे हृदयमें धारण करो। (सुधाकर द्विवेदीजी)] (ग) *'सत्य सदा संतत सुचि जानी'* इति। सदा सत्य है अर्थात् ब्रह्मवाणी झूठ न कभी हुई, न है, न होगी। *'संतत सुचि'* अर्थात् कभी अशुचि न हुई, न है, न होगी। 'शुचि' का भाव कि ब्रह्मवाणीसे किसीके साथ कभी छल नहीं हुआ; यह वेदरूप है; वेद सब वाणियोंमें श्रेष्ठ है, सत्य है, इसमें अधर्म नहीं है। ☞ विश्वास दिलानेके लिये ब्रह्म अपने वाणीकी वा ब्रह्मवाणी अपनी प्रशंसा कर रही है। (आशय यह है कि जो हमने *'अब मिलिहहि त्रिपुरारि'* और *'भवानी'* यह कहा है, इसमें सन्देह न करो। भले ही शिवजी स्वयं नहीं आये, पर यह निश्चय है कि वे अब शीघ्र मिलेंगे। अतः अब क्लेश मत उठाओ। पुनः सत्य और शुचि दोनों विशेषण देकर सूचित करते हैं कि इसमें झूठका लेश नहीं है। सत्य अपावन भी होता है। जिस सत्यसे किसीका प्राण जाय, वह 'सत्य' पावन नहीं है जैसे कि कंसके प्रसंगमें और द्रोणाचार्य-वधके प्रसंगमें हुआ। तथा भाव कि इसमें **'कुंजरो वा नरो वा'** का-सा सत्य नहीं है।)

आवैं पिता बोलावन जबहीं। हठ परिहरि घर जाएहु तबहीं॥ ३॥
मिलहिं तुम्हहि जब* सप्त रिषीसा। जानेहु तब प्रमान बागीसा॥ ४॥
सुनत गिरा बिधि गगन बखानी। पुलक गात गिरिजा हरषानी॥ ५॥
उमा चरित सुंदर मैं गावा। सुनहु संभु कर चरित सुहावा॥ ६॥

शब्दार्थ—बागीश=वाणियोंमें श्रेष्ठ=ब्रह्मवाणी।

अर्थ—जभी (जिस समय ही) पिता बुलाने आवें तभी (उसी समय) हठ छोड़कर घर चली जाना॥ ३॥ जब तुम्हें सप्तर्षि मिलें तब (इस) ब्रह्मवाणीको प्रमाण (सत्य, ठीक, चरितार्थ वा ठीक घटता हुआ) जान

* मिलिहिं जबहिं अब—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०। मिलहि तुम्हहि जब—१६६१, १७०४, को० रा०।

लेना॥ ४॥ आकाशसे कही हुई ब्रह्मवाणीको सुनते ही गिरिजाजी हर्षित हुईं। उनका शरीर पुलकित हो गया॥ ५॥ (श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं—) मैंने सुन्दर उमाचरित गा सुनाया। अब शिवजीका सुन्दर चरित सुनो॥ ६॥

नोट—१ (क) *'आवै पिता बोलावन जबहीं।'*…… इति। पिताने ही माताको तपकी शिक्षा देनेके लिये भेजा था। इस तरह वह पिताका ही वचन मानकर गिरिजाजी तप करने आयी थीं। इसीसे कहा कि जब वे बुलाने आवें तब जाना। बिना उनकी आज्ञा घर जानेसे पिताकी आज्ञाका उल्लंघन होगा। दूसरे, उमाजीका मनोरथ तो पूरा ही हो गया, पर अभी महादेवजीकी परीक्षा बाकी है जो सप्तर्षियोंद्वारा होनी है। इन कारणोंसे तुरंत घर जानेको न कहा। तीसरे, इन्हीं दो बातोंके द्वारा अपनी वाणीको प्रमाण करेंगे; अतः ऐसा कहा (सू० प्र० मिश्र)। ☞सम्भवतः वरदान अभी गुप्त ही रखना है। पिताके बिना बुलाये घर जानेसे एक तो सबको वरदानका पता लग जायगा और यदि घर जानेपर वरदानकी बात गुप्त रखेंगी तो बिना वरदान पाये तप अधूरा छोड़ देनेसे कार्यसिद्धिमें सन्देह होनेसे माता-पिता दुःखी होंगे। अतः ऐसा कहा। (ख) *'हठ परिहरि घर जाएहु'*…… से जान पड़ता है कि इसके पूर्व भी पिता कई बार बुलाने आये थे, पर ये हठ करके नहीं गयीं। पुनः *'घर जाएहु'*…… का भाव कि तुम्हारा काम हो ही गया, पर बिना घर गये विवाहका संयोग नहीं होगा, इसलिये बुलाने आवें तब तुरन्त चली जाना, जिसमें तुरन्त विवाहका कार्य आरम्भ हो सके। इसीसे 'तबही' कहा।

टिप्पणी—१ *'मिलहिं तुम्हहि जब सप्त रिषीसा।'*…… इति। (क) यह वाणीकी सत्यताका चिह्न बताया। जैसे लंकिनीको निशिचर-कुल-संहारका चिह्न ब्रह्माजीने बताया था; यथा—*'जब रावनहि ब्रह्म बर दीन्हा। चलत बिरंचि कहा मोहि चीन्हा॥ बिकल होसि तैं कपि के मारे। तब जानेसु निसिचर संहारे॥'* (५। ४) भाव यह कि यदि तुम्हें पिता बुलाने आवें और सप्तर्षि आवें, ये दोनों बातें मिलें, सच्ची निकलें तो यह भी सत्य जान लेना कि तीसरी भविष्य-वाणी *'मिलिहहिं त्रिपुरारि'* भी सत्य होगी, उनकी सत्यता इसकी सत्यताका प्रमाण होगी। (मनु-शतरूपाजीके प्रसंगमें और रावणके अत्याचारपर देवताओंकी पुकारपर भी आकाशवाणियाँ हुईं, पर उनमेंसे किसीमें भी इतना प्रमाण देकर प्रेमसे वाणीकी सत्यताका विश्वास दिलाना नहीं पाया जाता। यहाँ एक भविष्यके प्रमाणके लिये दो भविष्य और कहे गये और सत्य एवं शुचि होनेका विश्वास करनेको कहा गया। यह क्यों? इससे स्पष्ट है कि शिवजी स्वयं वर देनेको नहीं आये, इसीसे पार्वतीजीको विश्वास नहीं होता था कि हमारा तप सिद्ध हुआ, शिवजी हमारे पति होंगे। अतएव बारम्बार समझाते हैं और प्रमाण देते हैं)। [(ख) **'सप्त रिषीसा'**=सप्तर्षि। ☞यह सात ऋषियोंका समूह या मण्डल होता है। शतपथ ब्राह्मणके अनुसार सात ऋषियोंके नाम ये हैं—गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप और अत्रि। महाभारतके अनुसार—'मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलह, क्रतु, पुलस्त्य और वसिष्ठ। (श० सा०) ☞ एक कल्प अर्थात् एक सहस्र चतुर्युगी वा ब्रह्माके एक दिनमें चौदह मनु और मन्वन्तर होते हैं। प्रत्येक मनु एकहत्तर चतुर्युगीसे कुछ अधिक समयतक अपना अधिकार भोगता है। प्रत्येक मन्वन्तरमें भिन्न-भिन्न मनु, मनुवंशी नृपतिगण, सप्तर्षि, देवता, इन्द्र तथा उनके अनुयायी गन्धर्वादिका एक मण्डल रहता है। (भा० ३। ११। २४) इसलिये सप्तर्षि-मण्डल भी प्रत्येक मन्वन्तरमें भिन्न-भिन्न होता है। स्वायम्भुव मन्वन्तरमें मरीचि आदि ही सप्तर्षि होते हैं। स्वारोचिष मन्वन्तरमें अत्रि, दत्तात्रेय, च्यवन, स्तम्ब, प्राण, कश्यप और बृहस्पति। औत्तम मन्वन्तरमें ऊर्ज नामके—कौकिभिण्डि, कुतुण्ड, दाल्भ्य, शंख, प्रवाहित, मित और सम्मित। तामसमें कवि, पृथु, अग्नि, अकपि, कपि, जन्य तथा धामा। रैवतमें देवबाहु, सुबाहु, पर्जन्य, सोमप, मुनि, हिरण्यरोमा और सप्ताश्व। चाक्षुषमें भृगु, सुधामा, विरज, विष्णु, नारद, विवस्वान् और अभिमानी। वैवस्वत मन्वन्तरमें अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, गौतम, योगी भरद्वाज, विश्वामित्र और जमदग्नि ये सप्तर्षि-मण्डल रहते हैं। इस समय वैवस्वत मन्वन्तर चल रहा है अतः अबतकके सप्तर्षियोंके नाम लिखे गये। इसके आगे सात मन्वन्तर और हैं जिनके नाम हैं—सावर्ण्य, रौच्य, भौत्य, मेरुसावर्णि, ऋभु,

वीतधामा और विष्वक्सेन। (पद्मपुराण-सृष्टिखण्ड) ☞जिस कल्पमें जिस मन्वन्तरमें पार्वतीजीका चरित हुआ हो, उसके अनुकूल सप्तर्षि-मण्डल यहाँ समझना चाहिये। पर यह निश्चय है कि उस मण्डलमें नारदजी नहीं थे, क्योंकि उनके रहते हुए सप्तर्षि नारदजीकी निन्दा कैसे करते? कुमारसम्भवके मतसे यह कथा वैवस्वत मन्वन्तरकी होगी, क्योंकि उसमें वसिष्ठजी और अरुन्धतीजीका भी नाम है—७७ (८) *'तबहिं सप्तरिषि सिव पहिं आए'* नोट २ देखिये। विष्णुपुराणमें केवल वैवस्वत मन्वन्तरमें ही वसिष्ठजीका नाम सप्तर्षियोंमें पाया जाता है, अन्यमें नहीं। यथा—'**विवस्वतस्सुतो विप्र श्राद्धदेवो महाद्युतिः। मनुस्संवर्तते धीमान् साम्प्रतं सप्तमेऽन्तरे॥"""वसिष्ठः काश्यपोऽथात्रिर्जमदग्निस्सगौतमः। विश्वामित्रभरद्वाजौ सप्त सप्तर्षयोऽभवन्॥**' (विष्णुपुराण-अंश ३। १। ३०, ३२) वसिष्ठजीका नाम प्रथम होनेसे वे इस मण्डलमें प्रधान जान पड़ते हैं। विष्णुपुराण-अंश ३ अध्याय १ और २ में चौदहों मन्वन्तरोंके सप्तर्षियोंकी नामावली दी हुई है। अधिक देखना हो तो पाठक वहाँ देखें। ☞इन्हीं सप्तर्षियोंके नामसे उत्तर दिशामें सात तारागणका एक समूह रहता है जो ध्रुवके चारों ओर फिरता दिखायी देता है। सम्भव है कि ये ऋषियोंके लोक हों।]

टिप्पणी—२ *'सुनत गिरा बिधि गगन बखानी।'* इति। (क) ☞यहाँ 'ब्रह्मवाणी' का अर्थ स्पष्ट कर दिया कि 'विधिकी कही हुई वाणी' है। (अधिक लोग *'बिधि'* से 'विधानकर्ता श्रीरामजी' यह अर्थ करते हैं, क्योंकि आगे शिवजीको भी ये ही समझानेको प्रकट होंगे।) (ख) *'पुलक गात'* यह हर्षका लक्षण है। *'पुलक गात गिरिजा हरषानी'* इस कथनमें यह भी अभिप्राय भरा हुआ है कि उनका शरीर जो तपसे क्षीण हो गया था, वह ब्रह्मवाणी सुननेपर पुनः फूलकर ज्यों-का-त्यों हो गया, जैसे मनुशतरूपाजी ज्यों-के-त्यों हो गये थे। यथा—*'मृतक जिआवनि गिरा सुहाई। श्रवनरंध्र होइ उर जब आई॥ हृष्ट पुष्ट तन भए सुहाए। मानहुँ अबहिं भवन ते आए॥'* (१। १४५) [(ग) श्रीपार्वतीजीके हर्षका उल्लेख इस प्रसंगके आदि, मध्य और अन्त तीनोंमें दिखाया गया है। प्रथम *'सुनि मुनि गिरा सत्य जिय जानी। दुख दंपतिहि उमा हरषानी॥'* ६८ (१) में, (पार्थिव शरीरके कारण जो किञ्चित् आवरण माधुर्यमें था वह नारद-वचन सुनकर हट गया, अतः हर्ष हुआ।) दूसरी बार, माता-पिता तप करने जाने देंगे इसमें संदेह था, अतः तपके लिये आज्ञा पाकर जानेमें हर्ष हुआ—*'मातु पितहि बहु बिधि समुझाई। चलीं उमा तप हित हरषाई॥'* (७३। ७) और तीसरी बार संदेह था कि शङ्करजी पतिरूपसे मिलेंगे या नहीं; अतः *'अब मिलिहहि त्रिपुरारि'* यह ब्रह्मवाणी सुनकर हर्ष हुआ।]

टिप्पणी—३ *'उमा चरित सुंदर मैं गावा।"""'* इति। (क) यहाँ *'उमा चरित'* सम्पुट हुआ। *'जब ते उमा सैल गृह जाई।'* (६५। ७) उपक्रम है और *'उमाचरित सुंदर मैं गावा'* उपसंहार है। (ख) *'उमा चरित सुंदर'* और *'संभु कर चरित सुहावा'*, अर्थात् एकमें *'सुन्दर'* और दूसरेमें *'सुहावा'* पद देकर दोनोंके चरितोंकी समानता दर्शित की।

प० प० प्र०—'श्रीउमा-शिवचरित्र' जैसे यह एक ऐतिहासिक घटना है वैसे यह प्रदीर्घ रूपक है। श्रीमदाचार्यकृत 'सौन्दर्यलहरी' में 'आनन्दलहरी' के ४१ श्लोकोंमें जिस कुण्डलिनी महायोगका वर्णन है; उसका सार ही इस उमाशिवचरित्र रूपकमें है।

उमा और सच्चिदानन्दघन शिवका निवास ब्रह्मरन्ध्ररूपी कैलासपर्वतपर था। सती उमा हरिमाया-मोहित हुईं और सुदीर्घ कालतक उनका वियोग हुआ। फिर सतीने योगानलमें देहत्याग किया और *'जनमी जाइ हिमाचल गेहा।'* उमा=महेशजीकी मायाशक्ति। इस माहेश्वरी शक्तिको ही कुण्डलिनी शक्ति शिवा कहते हैं—(ज्ञानेश्वरी अ० ६ देखिये।) पर्वत=पीठकी रीढ़=पृष्ठवंश रज्जु पर्वतका गेह=पृथ्वीतत्त्वका स्थान मूलाधार चक्र। इसके समीप नीचे एक कुण्डलाकार नाड़ीमें निवास करनेसे उसको कुण्डलिनी नाम प्राप्त हुआ, यही शिवजीकी शक्ति है।

पश्चात् श्रीनारद-सद्गुरुकी कृपासे वह जाग्रत् हो गयी और शिवकी प्राप्तिके लिये क्रियाशील बनी। *'जौं तप करै कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥'* शम्भु-कृपासे ही शाम्भवकी आत्म-स्वरूप शिवकी प्राप्ति होती है। स्थूलदेहाहंकार, सूक्ष्मदेहाहंकार और कारणदेहाहंकार ही त्रिपुरासुर है। इसका विनाश शिव-शक्तिसे ही होता है।

महायोगकी प्रक्रिया ही तप है।

'उर धरि उमा प्रानपति चरना।'''''' 'सागु खाइ सत बरष गँवाए' इस प्रकार सभी भोगोंका त्याग किया। अन्नाहार, पौष्टिकाहारका भी त्याग किया और कन्द-मूल-फल भक्षण करके एक सहस्र वर्ष तप किया।

'**कन्दोर्ध्वं कुण्डलीशक्तिः**' मनुष्यकी देहमें मूलाधार चक्रके नीचे '**कन्द**' नामक स्थान है। इसके ऊपर और मूलाधारके नीचे कुण्डलिनीका स्थान है, उसका त्याग करके निकलीं। कन्द-मूल-फल पृथ्वीतत्त्वके ही विकार हैं, उनको भक्षण करती रहीं। भाव यह कि मूलाधार-(पृथ्वीतत्त्वका चक्र-) में प्रवेश करके पृथ्वीतत्त्वका भक्षण किया। '**पार्थिव धातु आधवी। आरोगितां (खानेपर) काहीं भुखी**' (ज्ञानेश्वरी ६। २३९) तत्पश्चात् मूल-फलादि खाना भी छोड़ दिया। भाव कि मूलाधार चक्रको छोड़कर ऊपर चलीं और *'कछु दिन भोजन बारि बतासा'* किये। भाव यह कि जलतत्त्वके स्वाधिष्ठान चक्रमें प्रवेश किया और शरीरमें जो जलतत्त्व है उसका प्राशन करने लगीं, उसका शोषण कर दिया। पश्चात् अग्नितत्त्वके मणिपूरक चक्रका भेदन करके सुषुम्नामार्गमें ऊपर जाना पड़ता है तब हृदयमें वायुतत्त्वके अनाहत चक्रमें प्रवेश किया, यह बात *'कछु दिन भोजन बारि बतासा'* से कही है। दीर्घकालतक अनाहत चक्रपर रहीं। पश्चात् वायुतत्त्वका भी त्याग किया; अर्थात् अनाहत चक्रसे निकलकर आकाशतत्त्वके 'विशुद्ध' चक्रमें प्रवेश किया।—*'किये कठिन कछु दिन उपवासा।'*

जबतक श्वासोच्छ्वासकी क्रिया चलती है तबतक जलको त्याग देनेपर भी वायुका आहार तो होता ही रहता है। वायुका भी त्याग किया इससे सिद्ध हुआ कि कुछ समाधि-अवस्थामें गया। *'बिसरी देह तपहि मन लागा।'* '**ज्ञानमयं तपः**'—आत्मज्ञानमें मन लगा दिया। इतनी दीर्घ तपश्चर्या करनेपर भी शिवजी प्रसन्न न हुए, यह देख इससे भी कठिन तपका निश्चय किया।

'बेल पाति महि परइ सुखाई।'''''' अर्थात् केवल एक बिल्वपत्र खाकर रह गयीं। बिल्वपत्र त्रिदल होता है। भाव यह है कि विशुद्ध चक्रका भी त्याग करके आज्ञाचक्रमें प्रवेश किया। इडा, पिंगला और सुषुम्णा नाड़ियोंका संगम ही त्रिदल बिल्वपत्रके समान है। इस चक्रमें स्थित रहकर पार्वतीजीने शिवपद-कमलका ध्यान किया। जो कोई आज्ञाचक्रमें घटिकात्रयतक स्थिरवनी रस (विषयाशारहित होकर) रहता है उसको आत्मज्ञान होता है, यह योगशास्त्रका सिद्धान्त है। '**ई=ईषत्। ज्ञा=ज्ञान**' जिसमें होता है वह आज्ञाचक्र है। इसका स्थान भ्रूमध्यमें बताया जाता है। इसीको त्रिकूटाचल, त्रिवेणी-संगम, वाराणसी आदि नामोंसे उपनिषदोंमें और सन्तोंने बखाना है। आज्ञाचक्रमें प्रवेश करना अत्यन्त कठिन है; बड़े-बड़े हार मानकर अभ्यास छोड़ देते हैं; ऐसा श्रीएकनाथजी महाराजने श्रीभागवतटीकामें स्पष्ट कहा है। कोई बड़भागी ही इसमें प्रवेश करता है। इस चक्रमें तीन घड़ी भी स्थिर रहना बड़ा कठिन काम है, किन्तु पार्वतीजी इसमें ३००० वर्ष स्थिर रहीं। फिर भी शिव प्रसन्न नहीं हुए। अब इस चक्रका भेदन करके सहस्रारचक्रमें प्रवेश किया *'पुनि परिहरेउ सुखानेउ परना।'* जब सहस्रारमें प्रवेश होता है तब शिवमिलनकी आशा सफल होनेकी शक्यताकी अनुभूति होती है। जब आज्ञाचक्रसे सहस्रारमें प्राण-शक्तिका प्रवेश होता है तब विशिष्ट ध्वनि सुननेमें आती है। यही यहाँ मानो *'ब्रह्म गिरा गगन गभीरा'* है। यह ब्रह्मगिरा श्रीरामजीकी ही है, रामभक्त नारदका आशिष सत्य करनेकी जिम्मेदारी तो श्रीरामजीपर ही रहती है।

पश्चात् सप्तर्षिरूपी सिद्धियाँ खड़ी होकर परीक्षा लेती हैं। सिद्धियोंके प्रलोभनसे बचनेपर आकाशवाणीकी आज्ञानुसार कुछ कालके लिये भवानी भवनमें आकर रहने लगीं। यहाँ फिर सिद्धियों आदि रूपी विघ्नोंका सामना करना पड़ा। सप्तर्षिने फिर परीक्षा ली और अव्यभिचारिणी भक्ति देख ली तब शिवजी ब्रह्मरन्ध्ररूपी कैलाससे किञ्चित् नीचे उतरकर हिमालयमें आ गये और शिवशक्ति पार्वतीका पाणिग्रहण कर अपने धर्मरूपी वाहनपर उनको अपने पास बिठा लिया और उमासहित कैलासरूपी ब्रह्मरन्ध्रमें सुखसे विलास करने लगे।

श्रीपार्वती-जन्म-तप अर्थात् उमाचरित-प्रकरण समाप्त हुआ।

श्रीशम्भु-चरित-प्रसङ्ग

जब तें सतीं जाइ तनु त्यागा। तब तें शिव मन भएउ बिरागा॥ ७॥
जपहिं सदा रघुनायक नामा। जहँ तहँ सुनहिं राम-गुन-ग्रामा॥ ८॥

अर्थ—जबसे सतीजीने (दक्षयज्ञमें) जाकर शरीर-त्याग किया तबसे शिवजीके मनमें वैराग्य हो गया॥ ७॥ वे सदा श्रीरघुनाथजीका (राम) नाम जपते और जहाँ-तहाँ श्रीरामजीके गुणग्राम (यश, चरित, गुणोंकी कथा) सुना करते॥ ८॥

नोट—१ *'जब तें सतीं जाइ तनु त्यागा।……'* इति। यहाँ यह शङ्का होती है कि 'क्या पूर्व वैराग्य न था जो यहाँ कहते हैं कि सतीजीने तन-त्याग किया 'तबसे' वैराग्य हुआ? क्या पूर्व वे रागी थे?' इसका समाधान भिन्न-भिन्न प्रकारसे लोगोंने किया है—(क) कैलासस्थलमें जो उनका प्रेम था उससे वैराग्य हो गया। इसी कारणसे उन्होंने सतीजीके वियोगमें कैलासको छोड़ दिया और उतरकर इधर-उधर विचरने लगे, यथा *'दुखी भयउँ बियोग प्रिय तोरें॥ सुंदर बन गिरि सरित तड़ागा। कौतुक देखत फिरउँ बेरागा॥'* (७। ५६) सतीजी जब कैलासपर रहती थीं तब श्रीहरिकथावार्ताका सत्सङ्ग रहा करता था। उनके न रहनेसे वह सुख जाता रहा, इससे चित्तमें उचाट हो गया। (पं० रा० कु०, बाबा हरिदास) पुनः (ख) *'मन भएउ बिरागा'* अर्थात् घरमें रहकर भक्तके विरहका दुःख सहा न गया अथवा घर नहीं सुहाता। इसलिये घर छोड़ तीर्थाटन करने लगे। (मा० त० वि०) पुनः, (ग) कुमारसम्भवमें कालिदासजीने भी लगभग ऐसा ही लिखा है। उनके कथनानुसार भाव यह है कि सतीमरणके पश्चात् फिर उन्होंने विषयसङ्ग छोड़ अपत्नीक रहना ही स्वीकार किया। यथा—**'यदैव पूर्वे जनने शरीरं सा दक्षरोषात्सुदती ससर्ज। तदाप्रभृत्येव विमुक्तसङ्गः पतिः पशूनामपरिग्रहोऽभूत्॥'** (सर्ग १। ५३) अर्थात् जिस समयसे सतीजीने दक्षयज्ञमें शरीर-त्याग किया, उसी समयसे शिवजी विषयोंके सङ्गको छोड़कर अपत्नीक हुए। अर्थात् अन्य स्त्रीका ग्रहण न किया। पुनः, (घ) **बिरागा**='विशेष राग'। भाव कि देह और प्राणसे अधिक प्रिय कोई वस्तु नहीं है सो उस प्रिय तनको सतीजीने श्रीशिवजीके वियोगमें भस्म कर दिया। शिवजीका प्रेम सतीजीमें तो पूर्वसे ही था; यथा *'परम पुनीत न जाइ तजि किये प्रेम बड़ पाप।'* सतीतनत्याग होनेपर वह प्रेम अब और भी बढ़ गया। यह दो कारणोंसे—एक तो यह सोचकर कि इन्होंने हमारे निमित्त देह भी त्याग दिया। दूसरे इससे कि 'सतीतन रागका प्रतिबन्धक था, क्योंकि उसके लिये प्रतिज्ञा थी कि *'एहि तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं।'* वह शरीर अब छूट गया। उस-(प्रतिबन्धकता-) के मिटनेसे अब विशेष प्रेम हुआ।' (रा० प्र०, पा०) पुनः, (ङ) पहले सतीजीमें प्रेम था, अब वैराग्य हो गया; क्योंकि उन्होंने सोचा है कि सङ्ग दुःखदायी ही था, अब स्वतन्त्र हो गये। सतीजीमें माताभाव कर लिया था; सतीतनमें पत्नी-भाव न रखनेकी वे प्रतिज्ञा कर चुके थे, जिससे सतीजी दुःखित रहती थीं। उनको दुःखित देखकर शिवजीके चित्तमें भी दुःखका होना सम्भव था। (रा० प्र०) सदा विरागरूप होनेपर भी, गृहस्थको लोकसंग्रहके लिये; स्त्री-रक्षा कर्तव्यरूपसे प्राप्त रहती ही है। घरपर रहना ही पड़ता है। यदि बाहर जाय तो स्त्रीको साथ रखना पड़ता है, रागाभासको स्वीकार करना पड़ता है, अब वह भी नहीं रह गया। अतः कहते हैं *'तब तें शिव मन भएउ बिरागा।'* (वि० त्रि०)

नोट—२ *'जपहिं सदा रघुनायक नामा।……'* इति। (क) सदा रामनाम जपते हैं, यथा *'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग आराती॥'* (१। १०८) *तथा 'संतत जपत संभु अबिनासी।'* (१। ४६) (ख) ☞ग्रन्थकारने जो उपदेश ग्रन्थकी समाप्तिपर दिया है कि, *'रामहिं सुमिरिय गाइय रामहिं। संतत सुनिय रामगुन ग्रामहिं॥'* (७। १३०) वह सब बातें यहाँ शिवजीमें दिखाते हैं। (मा० पी०) पुनः *'सदा जपहिं'* का भाव कि पहिले सतीजीसे बातचीत करनी ही पड़ती थी, तब जप बंद रहता था, अब सदा जप होता है। (वि० त्रि०)

उपदेश	चरितार्थ
रामहि सुमिरिय	*जपहिं सदा रघुनायक नामा।*
गाइय रामहि	*कतहुँ रामगुन करहिं बखाना।*
सुनिय रामगुनग्रामहि	*जहँ तहँ सुनहिं रामगुनग्रामा।*

☞तात्पर्य यह कि यह उनकी दिनचर्या है। किञ्चित् भी समय भजनसे खाली नहीं जाने देते।

दो०—चिदानन्द सुखधाम शिव बिगत मोह मद काम*।
बिचरहि महि धरि हृदय हरि सकल लोक अभिराम† ॥ ७५ ॥

अर्थ—चिदानन्द, सुखके धाम, मोह-मद-कामरहित शिवजी समस्त लोकोंको आनन्द देनेवाले श्रीरामजीको हृदयमें धारणकर पृथ्वीपर विचरने लगे॥ ७५ ॥

नोट—१ यदि कोई कहे कि महादेवजी तो कामके नाशक हैं, वे स्त्रीके वियोगसे क्यों खिन्न होंगे, तो उसपर इस दोहेका उल्लेख किया गया। (सू० प्र० मिश्र) श्रीसुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'कविने यहाँ शिवजीका माहात्म्य वर्णन किया है, जैसे दोहा ४८ के *'पूजे रिषि अखिलेश्वर जानी'* इस चरणमें उनको 'अखिलेश्वर' कहा है। इस दोहेमें शिवजीके विशेषण और पीछे कहे हुए श्रीरामजीके विशेषणसे **'हरिहरयोर्भेदो नास्ति'** इस वचनको सार्थक किया है। जैसे यहाँ *'चिदानन्द', 'बिगत मोह मद काम', 'सुखधाम'* विशेषण है वैसे ही ५० (३) और ५२ (८) में *'जय सच्चिदानंद जगपावन'* और *(गईं सती जहँ) प्रभु सुखधामा'* हैं। जिसमें मोह-मद-काम न हों वही 'जगपावन' है। जैसे यहाँ *'सकल लोक अभिराम'* वैसे ही वहाँ *(भरि लोचन) छबिसिंधु (निहारी)'* ५० (२) है। जिसके दर्शनसे सकल लोक-अभिराम शिवजीके हृदयमें भी विशेष हर्ष हुआ।' [*चिदानन्द सुखधाम'* के भाव ५० (३) और ५२ (८) में आ चुके हैं। भाव यह है कि यह न समझो कि ये वियोगविरहसे पीड़ित होकर घरसे निकल गये। ये तो चिदानन्द हैं, सदा आनन्दरूप हैं। लोकके दिखावमात्रमें ऐसा है, वस्तुत: वे तो लोगोंको आनन्द देनेके लिये इस बहाने कैलाससे निकल पड़े हैं। श्रीद्विवेदीजी *'सकल लोक अभिराम'* को शिवजीका विशेषण मानते हैं। प्राय: और सब इसे *'हरि'* का विशेषण मानते हैं।]

नोट—२ *'बिचरहि महि……'* इति। (क) पृथ्वीपर विचरनेका भाव कि सांसारिक जीवोंको कृतार्थ करते फिरते हैं। इससे सूचित किया कि कैलाससे उतरकर पृथ्वीपर विचरते हैं। *'बिचरहि'* आनन्दपूर्वक घूमना-फिरना सूचित करता है। सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि 'भूमि ही कर्मभूमि है, अतएव सब कर्म-धर्म पृथ्वीपर ही होते हैं, स्वर्ग तो भोगस्थल है', अत: *'बिचरहि महि'* कहा। (ख) *'सकल लोक अभिराम'* को 'शिव' का भी विशेषण मान सकते हैं। तब *'लोक'* का अर्थ 'लोग' होगा। अर्थात् सभी लोगोंको आनन्द देनेवाले (सबको आनन्द देनेके लिये पृथ्वीपर विचरते हैं) शिवजीका विशेषण मानें तो इसका स्वरूप आगे दिखाते हैं कि *'कतहुँ मुनिन्ह उपदेसहिं ग्याना।……'* इत्यादि। ज्ञानियोंसे ज्ञान कहते हैं, उपासकोंसे श्रीरामगुण बखान करते हैं।

---

* 'मान' पाठ सं० १६६१, १७६२ और १७०४ में है। १६६१ की पोथीमें किसीने 'मान' शब्दको पेन्सिलसे घेरकर हाशियेपर पेन्सिलसे 'काम' लिखा है। 'काम' पाठ १७२१, छ०, को० रा० की पोथियोंमें है। सम्भव है कि 'अभिराम' के अनुप्रासके विचारसे लोगोंने 'काम' पाठ कर दिया हो। अनुप्रास होनेसे 'काम' पाठ उत्तम जान पड़ता है। दूसरे दोहा ७६ (२) में 'जदपि अकाम तदपि भगवाना। भगतबिरह दुख दुखित सुजाना' से सूचित होता है कि पूर्व निष्काम होना कहा जा चुका है। इससे भी यह पाठ समीचीन जान पड़ता है। 'मान' पाठ प्राचीनतम तीन पोथियोंमें होनेसे उसकी अवहेलना भी नहीं की जा सकती। उसके पक्षमें यह कह सकते हैं कि—'मोह, मद और मान' ये तीनों शब्द किष्किन्धाकाण्डमें एक साथ आये हैं, यथा—'जिमि बुध तजहिं मोह मद माना।'† 'आराम'—भा० दा०, पं०।

कतहुँ मुनिन्ह उपदेसहिं ग्याना। कतहुँ रामगुन करहिं बखाना॥ १॥
जदपि अकाम तदपि भगवाना। भगत बिरह दुख दुखित सुजाना॥ २॥

अर्थ—कहीं (तो) वे मुनियोंको ज्ञानका उपदेश करते और कहीं श्रीरामचन्द्रजीके गुणोंका वर्णन करते (अर्थात् श्रीरामयश कहते)॥ १॥ यद्यपि (शिवजी) काम और कामनाओंसे रहित (अर्थात् निष्काम) हैं, तथापि वे सुजान भगवान् भक्त-(सती-) के वियोग-दुःखसे दुःखी हैं॥ २॥*

नोट—१ *'कतहुँ मुनिन्ह उपदेसहिं ग्याना।……'* इति। (क) ☞ मुनियोंको ज्ञानोपदेश करनेका तात्पर्य यह है कि अधिकारीको ज्ञान देनेसे वह ज्ञान और बढ़ता है। शास्त्रोंमें कहा है—'**जले तैलं खले गुह्यं पात्रे दानं मनागपि। प्राज्ञे शास्त्रं स्वयं याति विस्तारं वस्तु शक्तितः॥**'—(भास्करबीजगणित) अर्थात् जलमें तेल, दुष्टमें गुप्त बात, योग्यमें दान और बुद्धिमान्‌में शास्त्र थोड़ा भी देनेसे विस्तृत हो जाता है। मुनि लोग भगवान्‌का मननकर अन्तःकरण शुद्धकर सत्पात्र हो गये हैं। अतः मुनियोंको अधिकारी और सत्पात्र समझकर ज्ञानोपदेश देते हैं, वह यही कि राम-नाम जपो। यथा *'कही संभु अधिकारी पाई।'* (१। ४८) अधिकारी भक्त श्रोता मिलता है तब राम-गुणगान करने लगते हैं। ☞भाव यह है कि दिन-रात श्रीरामगुणानुवादमें ही समय बिताते हैं, जिसमें अनन्य-भक्ता सतीके विरहका दुःख न व्यापे। यही बात आगे दिखाते हैं। ☞यहाँ शिवजीके आचरणद्वारा उपदेश देते हैं कि जब अधिकारी श्रोता मिले तब रामगुण-कथन करो, वक्ता मिले तो सुनो और दोनोंके अभावमें स्वयं जप, स्मरण, मनन करो, कभी खाली न बैठो। अकेलेकी चर्य्या पूर्व *'अस कहि लगे जपन हरिनामा। गईं सती जहँ प्रभु सुखधामा॥'* (१। ५२) में भी कही गयी है और ऊपर *'जपहिं सदा रघुनायक नामा'* में भी। (भागवत २।१।५) में भी ऐसा ही उपदेश श्रीशुकदेवजीने किया है; यथा '**तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान्हरिरीश्वरः। श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्॥**' (२। १। ५) अर्थात् हे परीक्षित्! जो अभय चाहता है उसे चाहिये कि सर्वात्मा भगवान् हरि परमेश्वरका सदा कीर्तन, श्रवण और स्मरण करता रहे। इस श्लोकमें **श्रोतव्यः (वक्तरि सति)**, कीर्तितव्यश्च **(श्रोतरि सति)** और **स्मर्तव्यश्च (वक्तृश्रोत्रभावे),** ऐसा अन्वयार्थ समझना चाहिये अर्थात् श्रोतासे कहे, वक्ता मिले तो सुने, दोनोंके अभावमें स्मरण करे। (मा० प०) (ख) प्रथम चरणमें मुनियोंको ज्ञानोपदेश करना कहा पर दूसरे चरणमें किसीका नाम नहीं दिया गया। कारण कि श्रीरामयशश्रवणके अधिकारी श्रीरामोपासक ही होते हैं, उपासकोंका सारा कर्म-धर्म एवं सर्वस्व यही है; यथा *'रामहि सुमिरिय गाइय रामहि। संतत सुनिय राम गुन ग्रामहि॥'* (७। १३०) अतः उपासकोंसे रामगुणकथन करना समझना चाहिये।

* **'जदपि अकाम तदपि भगवाना।……'** इति। *

१—महानुभावोंने इसका अर्थ कई प्रकारसे किया है—(१) 'यद्यपि शिवजी कामनारहित हैं तो भी वे भगवान् (ऐश्वर्यवान्), सुजान हैं और भक्तोंके वियोगदुःखसे दुःखित होते हैं। भाव कि सतीजीको भक्त जानकर उनके वियोगसे अपनेको भी दुःखी माना।'—(सू० प्र० मिश्र)। (२) 'श्रीशिवजी यद्यपि कामनारहित हैं (अर्थात् उनको विवाहकी इच्छा नहीं है) तथापि भगवान् श्रीरघुनाथजी भक्त पार्वतीजीका दुःख देख दुःखित हुए; क्योंकि सुजान हैं, पार्वतीजीके तप-(एवं दुःख-) को जानते हैं।' (रा० प्र०) सू० प्र० मिश्र इस अर्थके विषयमें लिखते हैं कि मेरी समझमें यह अर्थ प्रकरणसे मिलता है। [परन्तु *'जदपि'* और *'तदपि'* इस बातको निश्चय कराते हैं कि जिसके लिये *'अकाम'* कहा है उसीके लिये *'भगवान्'* इत्यादि भी कहा है। (और भी अन्वय तथा अर्थ पाद-टिप्पणीमें दिये गये हैं।)]

* 'जदपि… सुजाना। २।' का अन्वय कई प्रकारसे हो सकता है।—१ 'जदपि अकाम (हैं) तदपि भगवान् (हैं अतः वे) सुजान भक्त विरहदुःखसे दुःखित हैं।' २—'जदपि अकाम (हैं) तदपि सुजान भगवान् भक्त विरह…।' ३—'जदपि भगवान् (शिव) अकाम (हैं) तदपि सुजान (होनेसे) भक्त…।' ४—'जदपि अकाम (हैं) तदपि भगवान् (ऐश्वर्यमान् हैं) सुजान (हैं) और भक्त-विरहदुःखसे दुःखित (हैं)।' (मा० प०) ५—'जदपि सुजान अकाम (हैं) तदपि (वे) भगवान् भक्त…।' (मा० अं०) ६—'जदपि (वे) सुजान भगवान् अकाम (हैं) तदपि भगत…।'

२ (क) *'तदपि भगवाना'*—'तो भी भगवान् ही तो हैं'—ऐसा अर्थ करनेपर भाव यह होता है कि 'अकाम होनेपर भी आप भक्तके विरहदु:खसे दु:खित हो गये, क्योंकि 'भगवान्' हैं। भगवान्के छ: गुणोंमेंसे एक 'करुणा' भी है—'**कारुण्यं षड्भिः पूर्णं रामस्तु भगवान् स्वयम्।**' दूसरेके दु:खसे दु:खी हो जाना 'करुणा' गुण है, इसी कारण आप उमाके दु:खसे दु:खित हैं। (ख) श्रीसुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'भगवान्के परम भक्त होनेसे ('**वैष्णवानां यथा शम्भुः**') वे भगवान्के समान हो गये हैं; इसीसे कहा कि यद्यपि अकाम हैं तो भी ऐश्वर्यसे भरे हैं।' विशेष पूर्व ४६ (२—५) में लिखा जा चुका है। (ग) बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'भगवान्' का भाव यह है कि 'कामनाओंको रोकनेमें समर्थ हैं, कामना पास नहीं आ सकती। कामनापर प्रबल हैं सही, तो भी भक्त-(सती-) के विरहसे दु:खी हैं क्योंकि सुजान हैं, निज दासके दु:खसे दु:खी होना ही चाहिये।' (घ) बाबा हरिहरप्रसादजी कहते हैं कि—'अकाम तो जीव भी होते हैं, उन जीवोंसे पृथक् करनेके लिये 'भगवान्' कहा है। (रा० प्र०) (ङ) यहाँ विरोधाभास अलंकार है।

३ *'भगत बिरह दुख दुखित सुजाना।'* इति। (क) यहाँ *'भगत'* से सतीजीका तात्पर्य है। सतीजी आपकी पूर्ण भक्ता हैं। यथा—*'जौं मोरें सिव चरन सनेहू। मन क्रम बचन सत्य ब्रतु एहू॥'* (५९) *'सती मरत हरि सन बरु माँगा। जनम जनम सिव पद अनुरागा॥'* (६५) *'जनम कोटि लगि रगरि हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥'* (८१) इत्यादि। इसी अभिप्रायसे *'अकाम, भगवाना* और *सुजान'* विशेषण दिये गये हैं। कोई यह न समझे कि शिवजी कामसे दु:खित हैं, इसीलिये कहा कि वे 'अकाम' हैं; यथा—*'हमरे जान सदा सिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी॥'* (९०) सब कामनाओंसे रहित हैं तब वे दु:खित क्यों हैं? क्योंकि वे सुजान हैं। वे जानते हैं कि भक्ता सती एक तो विरह-दु:खसे ही जाकर दक्षयज्ञमें मरीं, यथा—*'हर बिरह जाइ बहोरि पितु कें जग्य जोगानल जरी।'* (९८) तथा अब पार्वतीतनमें भी पुन: संयोगके लिये ही कठिन क्लेश उठा रही हैं और अब भी वियोगसे दु:खी हैं। भक्तवत्सल हैं, उनको दु:खित जानकर आपको दु:ख होता है। शिवजीका दु:खी होना सतीजीके मरणसे ही प्रारम्भ हो गया है। (ख) पुन:, *'भगत बिरह दुख'* का भाव कि भक्तका वियोग हुआ इस दु:खसे दु:खी हैं, यदि सती भक्ता न होतीं तो दु:खी न होते।

एहि बिधि गएउ कालु बहु बीती। नित नै होइ रामपद प्रीती॥ ३॥
नेमु प्रेमु संकर कर देखा। अबिचल हृदय भगति कै रेखा॥ ४॥

अर्थ—इस प्रकार बहुत समय बीत गया। श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें उनकी नित्य नवीन प्रीति होती गयी॥ ३॥ शंकरजीका नेम (नियम), प्रेम और उनके हृदयमें भक्तिकी अचल रेखा (लकीर वा चिह्न श्रीरामजीने) देखी॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'एहि बिधि गएउ काल बहु बीती।'''''* इति। (क) बहुत कालका प्रमाण यह कि सतीतनत्यागके जितने दिनोंके बाद पार्वतीजीका जन्म हुआ, जन्मसे फिर जितनी अवस्था होनेपर वे तप करने गयीं और जितने दिन तप किया, इतना काल व्यतीत हो गया। (ख) *'नित नै होइ'''''* इति। ग्रन्थकारने श्रीशिवजी और श्रीपार्वतीजीके प्रेम-प्रसंगकी समानता दिखानेके लिये *'नित नै होइ'''''* यह कहा।

श्रीपार्वतीजी	श्रीशिवजी
अपने पतिमें नित्य नया अनुराग	१ अपने पति-(रामजी-) में नित्य नया प्रेम।
यथा—*'नित नव चरन उपज अनुरागा।'*	यथा—*'नित नै होइ रामपद प्रीती।'*
देखि उमहि तप खीन सरीरा।	२ *नेम प्रेम संकर कर देखा। अबिचल हृदय भगति कै रेखा॥*
ब्रह्म गिरा भइ गगन गभीरा॥	३ *प्रगटे राम कृतज्ञ कृपाला।*
भएउ मनोरथ सुफल तव सुनु गिरिराजकुमारि	४ *कह प्रभु हर तुम्हार पनु रहऊ।*

उमाकी प्रशंसा-'*अस तप काहु न कीन्ह*'	५ *बहु प्रकार संकरहि सराहा। तुम्ह बिन अस ब्रतको निरबाहा॥*
अब उर धरहु ब्रह्म बर बानी	६ *अब उर राखेहु जो हम कहेऊ।*
ब्रह्मवाणीने समझाया—'*आवै पिता……*'	७ '*बहु बिधि राम सिवहि समुझावा।……*'
अब मिलिहहिं त्रिपुरारि	८ *जाइ बिबाहहु सैलजहिं*

(ग) [सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि अपने भक्त-(सती-) के दुःख दूर करनेके लिये ही शिवजी चारों ओर विचरते हुए रामोपदेश और रामगुणगान करते-करते शरीरको सुखाकर एक तरहका तप ही करते हैं। '*नित नै प्रीति……*' इत्यादि तप ही है।] (घ) '*नित नै……*' से यह भी जनाया कि सतीजीके विरह-दुःखसे शिवजीका प्रेम घटा नहीं किन्तु दिनोंदिन बढ़ता ही गया। उस विरहजन्य दुःखको दूर करनेहीके लिये रामपदप्रेम बढ़ाते गये।

टिप्पणी—२ '**नेमु प्रेमु संकर कर देखा।……**' इति। (क) '**नेम**' सती-त्यागका, (यथा '*एहि तन सतिहि भेंट मोहिं नाहीं। सिव संकल्प कीन्ह मन माहीं॥*' (५७) '*अस पन तुम्ह बिनु करइ को आना॥*' (५७) '*तुम्ह बिनु अस ब्रत को निरबाहा।*' (७६) '**प्रेम**' श्रीरामजीमें; यथा—'*नित नै होइ रामपद प्रीती।*' '*अबिचल हृदय……*' यह कि अब सतीजीको कभी (किसी तनमें भी) न ग्रहण करेंगे। पार्वतीतनमें भी सतीजीको अंगीकार करना शिवजी उचित नहीं समझते, यह दृढ़ता ही 'अविचल रेखा' है। यथा '*जय महेस भलि भगति दृढ़ाई।*' (५७) [(ख) पंजाबीजी, सू० प्र० मिश्र और सु० द्विवेदीजीका मत है कि बिना श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञाके पार्वतीतनमें भी न ग्रहण करना यही भक्तिकी अविचल रेखा है। परन्तु इसका प्रमाण क्या है कि उनके मनमें ऐसा था कि श्रीरामजी आकर कहें? यदि उनसे कहलाकर ग्रहण करनेकी इच्छा थी तो यह भक्तिकी अविचल रेखा न रह जायगी। (ग)—एक महात्मा 'प्रेम' से 'सतीका प्रेम' लेते हैं और कहते हैं कि प्रभुने देखा कि उनके प्रेमके कारण उनके विरहमें दुःखी हैं तथापि हमारी भक्तिके कारण उनको त्यागे हुए हैं; उनका कहना है कि 'सतीजीके प्रति शंकरजीका प्रेम' अर्थ करनेसे आगेके '*अबिचल हृदय भगति कै रेखा*' में पुनरुक्तिका दोष नहीं रहेगा तथा नेममें भी महत्त्व आ जायगा कि जिसकी सराहना प्रभु स्वयं आगे करते हैं। पुनः, (घ)—'**नेम**' यह तनकी क्रिया या व्यवहार है। प्रेम मनका व्यवहार है। इस तरह भीतर-बाहर दोनोंकी भक्तिकी दृढ़ रेखा देखी।—(वै०)]

प्रगटे रामु कृतज्ञ कृपाला। रूप सील निधि तेज बिसाला॥ ५॥
बहु प्रकार संकरहि सराहा। तुम्ह बिनु अस ब्रतु को निरबाहा॥ ६॥

अर्थ—(तब वे) कृतज्ञ, कृपाल, रूप और शीलके समुद्र तथा बहुत भारी तेजवाले श्रीरामचन्द्रजी प्रकट हो गये॥ ५॥ (और उन्होंने) बहुत प्रकारसे शङ्करजीकी प्रशंसा की। (कहा कि) आपके सिवा (अतिरिक्त) ऐसा (कठिन) व्रत कौन निबाह सका है? (कोई भी तो नहीं)॥ ६॥

नोट—१ (क) '*प्रगटे रामु*' इति। भगवान् प्रेमसे प्रकट होते हैं, यथा—'*प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी।*' (१८४) '*प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना।*' (१८४) (शंकरवचन) अतः शिवजीका नित्य नया प्रेम और भक्तिकी अटल रेखा (कि अब सतीजीको किसी तनमें भी न ग्रहण करेंगे, प्रभुकी अनन्य भक्तिमें ही लीन रहेंगे) देखकर प्रकट हो गये। (ख) '*कृतज्ञ*' इति। कृतज्ञ हैं अर्थात् जानते हैं कि शङ्करजीने हमारी भक्तिको दृढ़ रखनेके लिये ही यह प्रण किया है। (पं० रामकुमारजी) प्रेमीके किये हुए स्वल्प सुकृतको भी बहुत मानते हैं, इसीसे प्रभु 'कृतज्ञ' कहलाते हैं; यथा—'**कृतं जानन् कृतज्ञः स्यात् कृतं सुकृतमीरितम्**' इति (भगवद्गुणदर्पण) यही बात विनयमें भी खूब कही गयी है; यथा—'*ज्यों सब भाँति कुदेव कुठाकुर सेये बपु बचन हिये हूँ। त्यों न राम सुकृतज्ञ जो सकुचत सकृत प्रनाम किये हूँ॥*' (वि० १७०) भक्तमालमें भी प्रमाण मिलते हैं। यथा—'*बोल्यो भक्तराज तुम बड़े महाराज कोऊ थोरोऊ करत काज मानो कृतजाल है।*' (श्रीमोरध्वजवाक्य। भक्तिरसबोधिनीटीका) तिलोचनजी, देवापंडाजी आदिने भी ऐसा

ही कहा है।—इस कृतज्ञगुण स्वभावके कारण प्रभुने विचार किया कि हमारी भक्तिके कारण इन्होंने सतीजीको त्याग दिया। पुनः, कृतज्ञ हैं इसीसे स्वेच्छया प्रकट हुए। सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि चारों ओर रामयश फैलानेसे वे शिवजीका उपकार मानते हैं, इससे कृतज्ञ कहा। (ग) *'कृपाला'* इति। भाव कि सतीजीकी अवज्ञाका, स्वीकृत अपमानका किञ्चित् भी स्मरण आपके चित्तमें नहीं है, क्योंकि आप 'कृपाल' हैं। दक्षयज्ञमें शरीर भस्म करते समय तथा उसके पूर्व जो उन्होंने आपका स्मरण किया था; यथा—*'सती मरत हरिसन बरु माँगा।'* (६५) *'जौं प्रभु दीनदयालु कहावा। आरतिहरन बेद जसु गावा॥ तौ मैं बिनय करौं कर जोरी। छूटौ बेगि देह यह मोरी॥'* (५९)। उतने मात्रसे उन्हें दीन जानकर और शिवजीके लिये कष्ट झेलते देख उनको शिवजीसे मिला देना चाहते हैं। सतीजीके उस किञ्चित् स्मरणरूपी कृतिको स्मरण करके कि वे हमारी शरण आ चुकी हैं वे कृपा करके प्रकट हुए। यथा—*'रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सय बार हिये की॥'*, *'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥'* (७।१) **'कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति। न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥'** (वाल्मीकीय अयोध्याकाण्ड सर्ग १।११) अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी सैकड़ों अपराधोंको आत्मीयताके कारण स्मरण नहीं करते और भूले-चूके भी यदि उपकार हो जाता है तो उसे बहुत मान लेते हैं। पुनः, 'कृपाल' का भाव कि वे यह समझकर कि बिना हमारे ये इस दुःखसे न छूट सकेंगी, हम ही एकमात्र इनका दुःख दूर करनेको समर्थ हैं दूसरा नहीं, वे कृपा करके प्रकट हुए। कृपागुणका यही लक्षण है; यथा—**'रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभुः। इति सामर्थ्यसन्धानं कृपा सा पारमेश्वरी॥'** (भगवद्गुणदर्पण वै०)

नोट—२ *'रूप सील निधि……'* इति। (क) ये सब विशेषण भी साभिप्राय हैं। सुन्दर रूप देखकर शिवजी प्रसन्न होंगे और कहना मानेंगे। भारी तेज इसलिये कि तेजस्वीकी आज्ञाके उल्लङ्घनका साहस किसीको नहीं होता। कोमल वाणी कहकर कार्य करायेंगे, अतः *'सीलनिधि'* कहा।' (पं० रा० कु०) (ख) 'रूप, शील और तेजकी व्याख्या भगवद्गुणदर्पणमें इस प्रकार है। **'अङ्गानि भूषितान्येव निष्काद्यैश्च विभूषणैः। येन भूषितवद्भाति तद्रूपमिति कथ्यते॥ चुम्बकायः कर्षन्यायैर्दूरादाकर्षको बलात्। चक्षुषां सगुणो रूपं शाणस्मार-शरावलेः॥'** अर्थात् जो बिना भूषणोंके ही भूषित-सा देख पड़े और जो नेत्रोंको अपनी ओर इस प्रकार आकर्षित कर लेता है जैसे लोहेको चुम्बकपत्थर। उसीको 'रूप' कहते हैं, नहीं तो निष्क (कण्ठश्री) आदि भूषणोंसे सामान्य रूप भी सुन्दर लगता है। **'हीनैर्दीनैर्मलीनैश्च बीभत्सैः कुत्सितैरपि। महतोऽच्छिद्रसंश्लेषं स शीलं विदुरीश्वराः॥'** अर्थात् बड़े लोगोंका हीन, दीन, मलीन, बीभत्स, कुत्सित—ऐसे भी लोगोंके साथ गाढ़ आलिंगन करना 'शील' गुण है। (मनुस्मृति कुल्लूकभट्टकृत टीका अ० २। ६) में 'शील' की व्याख्या इस प्रकार है।—**'शीलं ब्रह्मण्यतादिरूपं तदाह हारीतः।' ब्रह्मण्यता, देवपितृभक्तिता, सौम्यता, अपरोपतापिता** (दूसरोंको कष्ट न देना) **अनसूयता** (गुणोंपर दोषारोपण न करना), **मृदुता, अपारुष्यं** (कठोर न बोलना) **तु मैत्रता प्रियवादित्वं कृतज्ञता शरण्यता कारुण्यं प्रशान्तिश्च इति त्रयोदशविधं शीलम्।**—ये तेरह शीलगुण हैं। पुनः, उत्तम आचरण, सद्वृत्ति, कोमल हृदय, अच्छा स्वभाव जिसमें कभी दूसरेका जी न दुःखे और ऊँच-नीच कोई भी क्यों न हो उसका आदर, उससे प्रिय बोलना, इत्यादि सभी भाव सामान्यतः 'शील' के अन्तर्गत हैं। विनय० पद १०० शीलकी व्याख्या ही है। (ग)—*'रूप शील निधि' 'तेज विशाल'* (महातेजस्वी) का भाव कि रूप-शील-तेज तो शिवजीमें भी हैं परंतु श्रीरामजीका रूप और शील समुद्रवत् अपार है, अथाह है, यथा—*'भरि लोचन छबिसिंधु निहारी।'* और तेज भी विशाल है; यथा—*'राजन राम अतुल बल जैसे। तेज निधान लखन पुनि तैसे॥'* (१। २९३) क्योंकि जबतक अपनेसे अधिक न देखेंगे तबतक दाब कैसे मानेंगे? पुनः, (घ)—रूपशीलनिधि कहकर जनाया कि संसारके सब रूप और स्वभाव इन्हींसे उत्पन्न हुए हैं। (सु० द्विवेदी) (ङ) ☞ रूपशीलनिधि और विशाल तेजको देखकर शिवजी प्रेममें ऐसे मग्न हो गये कि प्रभुको प्रणाम करना भी भूल गये। श्रीविदुरानीजीकी भी दशा श्रीकृष्णजीके मुखारविन्दका शब्द सुनते ही कैसी हुई थी, यह भक्तमालके पाठकोंको विदित ही है। अत्यन्त प्रेमदशामें सुध-बुध नहीं रह जाती। ☞ *'तेज बिसाला'*

इति। विशाल तेजके स्पष्टीकरणके सम्बन्धमें पद्मपु० में राजगद्दी-प्रसङ्गमें जो कहा है उसे देखिये। वहाँ बताया है कि जिस दिव्य रूपका दर्शन शिवजीको उस समय हुआ था वह इतना विशाल तेजयुक्त था कि अन्य सब नर-वानर-देव इत्यादि उसके तेजके प्रभावसे मूर्च्छित हो गये। यथा—'**इत्युक्तः शम्भुना रामः प्रसादप्रणतोऽभवत्। दिव्यरूपधरः श्रीमान् अद्भुताद्भुतदर्शनः॥ तं तथा रूपमालोक्य नरवानरदेवताः। न द्रष्टुमपि शक्तास्ते भेषजं महदद्भुतम्॥ भयाद्वै त्रिदशाः श्रेष्ठाः प्रणेमुश्चातिभक्तितः॥**' (४२—४४)

नोट—३ '*बहु प्रकार संकरहि सराहा*' इति। (क) 'महादेवजीने श्रीरामयश चारों ओर फैलाया और यश फैलाकर उनकी प्रशंसा की, वैसे ही रामजीने शिवजीकी प्रशंसा की। यह कृतज्ञता है'। (सु० द्विवेदी) '**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' इस भगवद्वाक्यको चरितार्थ किया। उनके दृढ़ व्रतकी, उनके प्रेमकी, प्रतिज्ञाके निर्वाह इत्यादिकी प्रशंसा की। आपने हमारी प्रसन्नताके लिये, भक्तिका आदर्शस्वरूप लोकको उपदेश देनेके लिये, भक्तिकी महिमा दरसानेको यह सब किया। हम यह देखकर बहुत प्रसन्न हैं इत्यादि कहा। (ख) पार्वतीतनमें भी अब सतीजीको ग्रहण न करेंगे इस हठसे निवृत्त करना है। अतः प्रथम आते ही प्रशंसा करने लगे। (ग) '*तुम्ह बिनु अस ब्रतु को निरबाहा।*' इति। '*अस*' से जनाया कि यह व्रत बहुत कठिन है। यथा—'*अस पन तुम्ह बिनु करै को आना। रामभगत समरथ भगवाना॥*' (५७) '*अस ब्रत*' अर्थात् परम पुनीत सती ऐसी स्त्री जिसमें परम प्रेम था उसको भी सहज ही त्याग देना अत्यन्त दुष्कर व्रत है; यथा—'*शिव सम को रघुपति ब्रतधारी। बिनु अघ तजी सती अस नारी॥ पनु करि रघुपति भगति देखाई॥*' (१। १०४) '*को निरबाहा*' का भाव कि ऐसा कठिन व्रत भले ही लोग कर लें पर उसका आद्यन्त निर्वाह कठिन है। आपने त्याग किया, फिर लगभग एक लाख वर्ष साथ रहते हुए भी उस संकल्पसे न डिगे, कभी भूलकर भी सतीमें पत्नीभाव न आने दिया। सतीतन त्यागकर भी प्रतिज्ञाका निर्वाह कर रहे हैं। बैजनाथजीके मतसे यहाँ 'सौशील्यगुण' है।

वि० त्रि० लिखते हैं कि देवताओंने शिवजीके प्रणकी प्रशंसा की। यथा—'*चलत गगन भइ गिरा सुहाई। जय महेस भलि भगति दृढ़ाई॥*' (५७। ४) और श्रीरामजी उस प्रतिज्ञाके निर्वाहकी प्रशंसा करते हैं।

बहु बिधि राम शिवहि समुझावा। पारबती कर जनम सुनावा॥ ७॥
अति पुनीत गिरिजा कै करनी। बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी॥ ८॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने बहुत प्रकारसे शिवजीको समझाया और पार्वतीजीका जन्म (समाचार) सुनाया॥ ७॥ दयासागर श्रीरामजीने पार्वतीजीकी अत्यन्त पवित्र करनी विस्तारसहित वर्णन की॥ ८॥

नोट—१ '*बहु बिधि समुझावा*' इति। (क) अर्थात् कहा कि तुम्हारी प्रतिज्ञा तो यह थी कि '*एहि तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं।*' सतीजीने वह तन त्याग दिया। अब उन्होंने दूसरा तन धारण किया, फिर तुम्हारे प्राप्त्यर्थ उन्होंने उग्र तप किया, मन, कर्म, वचनसे वे तुम्हारी ही हो रही हैं, अब उनको ग्रहण करनेमें तुम्हारी प्रतिज्ञा भी रही, तुमको कोई दोष नहीं और उन्होंने अपनी करनीका फल भी पा लिया। विधिने आकाशवाणीद्वारा उन्हें वरदान भी दिया है। तुम्हारे ग्रहण न करनेसे ब्रह्मवाणी असत्य हो जायगी, देखिये कि यदि कोई मनुष्य कोई अनुष्ठान करे और देवता उसपर प्रसन्न हो जाय और वर माँगनेपर अथवा स्वयं उसका मनोरथ जानकर भी उसके इच्छित मनोरथको न दे तो उस देवताकी सामर्थ्यमें दोष लगता है, उसकी प्रसन्नता व्यर्थ समझी जायगी। अतः ब्रह्मवाणीने उसे वर दिया। उनकी वाणी व्यर्थ नहीं की जा सकती। पार्वतीजी आपके वियोगसे बहुत क्लेशित हैं, अब दुःखियाका दुःख छुड़ाओ, उनका कष्ट देखा नहीं जाता और तुम्हें भी दुःखी देखकर मुझे दया आती है। देखिये आपका नाम शिव है, आप उस नामको चरितार्थ कीजिये, पार्वतीजीको अंगीकारकर उनका कल्याण कीजिये। स्त्रीके लिये पतिको छोड़ दूसरा कल्याणकर्त्ता नहीं है। आप शिव हैं, वे शिवा हैं, अतः संयोग उचित है। उनके संगसे आपकी भक्ति वृद्धिको प्राप्त होगी; सत्संगसे उनके द्वारा लोकोपकार होगा। अतएव परोपकारार्थ विवाह करो, उससे जगत्में रामचरित

प्रकट होगा। इत्यादि। (बाबा हरिदास, सु० द्विवेदी) अथवा, *'बहु बिधि'* समझाना वही है जो आगे कहते हैं कि—पार्वतीजन्म, गिरिजाकी पुनीत करनी, इत्यादि। (ख) श्रीरामजीने समझाया, दूसरा कौन जगद्गुरुको समुझावे? (वि० त्रि०) (ग) *'पार्वती कर जन्म……'* अर्थात् शैलराजके यहाँ अमुक दिन, अमुक संवत्, नक्षत्र आदिमें उनका जन्म हुआ।

नोट—२ *'अति पुनीत गिरिजा कै करनी।……'* इति। (क) सती तन तो भस्म ही कर डाला, रहा मन, सो भी उग्रतपश्चर्याद्वारा निर्विकार हो गया। बालपनसे ही उनके हृदयमें आपके प्रति अनन्य प्रेम है। दिनोंदिन वह प्रेम बढ़ता ही गया। बालचरित कहकर 'उमाचरित' कहा कि माता-पिताको समझाकर अपनी इच्छासे ही वनमें आपकी प्राप्तिके लिये तप करने गयीं। फिर जैसा-जैसा उत्तरोत्तर कठिन तप किया वह कहा। (ख) *'गिरिजा'* का भाव कि अपराध और अपवित्रता तो दक्षसम्बन्धसे सतीतनमें थी और गिरिराज तो परम भक्त हैं, अतः गिरिजातन अति पुनीत है। गिरिजा मन-कर्म-वचनसे पवित्र हैं। (ग) *'बिस्तर सहित'* कहना पड़ा, इससे सूचित करते हैं कि शिवजी यह ठाने बैठे थे कि अब विवाह नहीं ही करेंगे। जिसमें संयोग हो जाय, शिवजी प्रसन्नतापूर्वक उनको स्वीकार कर लें, उस पक्षकी ही बातें बखानकर कहीं। यहाँ 'कृपानिधि' विशेषण देकर पूर्वका 'कृपाल' विशेषण चरितार्थ किया। संक्षेपसे कहनेमें संतोष नहीं अतः विस्तारसे कहा, क्योंकि कृपानिधि हैं। (वि० त्रि०)

दो०—अब बिनती मम सुनहु सिव जौं मो पर निज नेहु।
जाइ बिबाहहु सैलजहि यह मोहि मागें देहु॥ ७६॥

शब्दार्थ—निजु (निज)=आपका।=सच्चा, यथार्थ; यथा—*'जे निज भगत नाथ तव अहहीं।'* (१। १५०) **मागें**=माँगनेसे।

अर्थ—(अन्तमें यह कहा—) शिवजी! अब मेरी विनती सुनिये। यदि आपका मुझपर सच्चा प्रेम है तो जाकर पार्वतीजीको ब्याहिये—यह मुझे माँगे दीजिये॥ ७६॥

नोट—१ *'अब बिनती मम सुनहु सिव……'* इति। सतीत्याग श्रीरामजीकी प्रेरणासे हुआ, यथा—*'सुमिरत राम हृदय अस आवा।'* (५७) इसीसे दोनोंके संयोगकी प्रार्थना भी आप ही करते हैं। विनती करके तब माँगनेकी वस्तु माँगी जाती है, वही नियम भगवान्ने भी पालन किया। सुन्दर रूपका दर्शन दिया, प्रशंसा की, समझाया, विनती की और अन्तमें भिक्षा माँगी तब कार्य सिद्ध हुआ। नोट—२ ☞ स्मरण रहे कि यहाँ प्रभुके विनती करनेपर तालव्य 'श' का प्रयोग कविने किया है। नोट—३ *'जौं मो पर निज नेह'* अर्थात् यदि सत्य ही आपका मेरे ऊपर सच्चा स्नेह है तो जो मैं कहता हूँ वह मानिये (तब मैं जानूँ कि आपका सच्चा प्रेम है) सत्य प्रेमकी यह एक बड़ी पहचान है।

नोट—४ *'यह मोहि मागें देहु'* का भाव कि आप मेरे कहनेसे जब विवाह करेंगे तो सब यही कहेंगे कि मेरे माँगनेसे यह भिक्षा आपने मुझे दी, हमारे निहोरेसे आपने विवाह किया, कोई आपको लाञ्छन न देगा। देखिये, बड़े होकर तुमसे मैं भिक्षा माँगता हूँ, इसको तो विचार कीजिये। *'जाइ बिबाहहु'* का भाव कि सम्मानपूर्वक बारात ले जाकर ब्याह लाइये।

वि० त्रि०—भगवान् आविर्भूत होकर वर देते हैं, पर यहाँ स्वयं माँग रहे हैं, कहते हैं कि सबकी विनती तुम सुनते हो। मेरी न सुननेका कोई कारण नहीं। अथवा, मैं विनती सुनता हूँ, करता नहीं, सो आज तुमसे करता हूँ, इसलिये सुनो। 'मैं माँगता हूँ, मुझे दो' का भाव कि भगवान् उमासे वाक्यबद्ध हो चुके हैं कि *'अब मिलिहहिं त्रिपुरारि',* अतः माँगते हैं कि *'जाइ बिबाहहु……।'*

नोट—५ ☞ यहाँ भक्तपराधीनताका कैसा सुन्दर आदर्श है? यहाँ दिखाते हैं कि भगवान् अपने भक्तोंके कैसे अधीन रहते हैं। यहाँ भागवत-धर्मका महत्त्व दरसाया है; यथा—*'मैं तो हौं अधीन तीन गुनको न मान मेरे भक्तवात्सल्य गुण सब ही को टारे हैं।'* (भक्तिरसबोधिनी टीका भक्तमाल) पुनश्च यथा—*'अहं*